विपाशा

हिमाचल प्रदेश के भाषा एवं संस्कृति विभाग की द्वैमासिक पत्रिका

मुख पृष्ठ: सूर्य (प्रस्तर, छटी शती, बजौरा, जिला कुल्लू)

ऊपर का चित्र: शिव-पार्वती (काष्ठ, 19वीं शती रामपुर बुशहर, ज़िला शिमला)

आवरण के चारों पृष्ठों की कला कृतियां, राज्य संग्रहालय शिमला में हैं। विवरण पृष्ठ 96 पर दिया गया है। सभी पारदर्शियां : [illegible]

विपाशा

साहित्य, संस्कृति एवं कला की द्वैमासिकी
वर्ष-6, अंक-33, जुलाई-अगस्त, 1990

मुख्य संपादक
सी०आर०बी०ललित
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
त्रिशूल, शिमला-171003 दूरभाष : 3669, 6846, 4614

वार्षिक शुल्क : दस रुपये, एक प्रति : दो रुपये

क्रम

3 पाठकीय

5 संपादकीय

साक्षात्कार

7 शमशेर बहादुर सिंह से महावीर अग्रवाल की बातचीत

लेख

15 हिन्दी के समर्पित साधक : श्री नारायण चतुर्वेदी : कमलापति मिश्र

कहानी

27 जन्म दिन का उपहार : डॉ० सत्यपाल शर्मा

देशांतर

35 पागल (कहानी) : चिनुआ अचेबे

कविता

41 मरम्मत करने वाले : चन्द्रकांत देवताले

43 छः कविताएं : बलदेव वंशी

47 तीन कविताएं : अरविन्द रंचन

52 छः कविताएं : प्रगति सक्सेना

समीक्षा

57 परम्परा का निषध : डॉ० रेवती रमण

61 आंचलिक परिवेश का प्रयास : डॉ० सतीश निझावन

लोक संस्कृति

63 कुल्लू क्षेत्र की लोक-नाट्य परम्परा : मौलूराम ठाकुर

86 प्रकृति और संस्कृति का देश : किन्नौर : डॉ० दिनेशचन्द्र अग्रवाल

आयोजन

94 सोलन में नाट्योत्सव : ईशान शर्मा

कला

96 आवरण की कला-कृतियां : डॉ० बलवीर चौहान

रचनाओं में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं, इनमें सम्पादकीय सहमति आवश्यक नहीं।

पाठकीय

पहाड़ की ताज़ा हवा

प्रेम प्रकाश, जालंधर शहर

विपाशा के मार्च-अप्रैल '90 अंक का आवरण बहुत आकर्षक है—एक प्राचीन पंखे पर पारम्परिक पहाड़ी शैली में राधा-कृष्ण का चित्र। इससे कला की उस समृद्ध परम्परा का आभास मिलता है जब दैनिक उपयोग की वस्तुओं पर भी इतने उत्कृष्ट चित्र रचे जाते रहे। लक्ष्मण ताल और लोक-नाट्य तथा प्रस्तर मूर्ति के चित्र भी इसी तरह महत्त्वपूर्ण हैं।

सामग्री में बोर्खेज़ की कहानी को छोड़कर शेष कहानियां कमज़ोर हैं। चेखाव की कहानी तो बहुचर्चित है ही। नागर जी को लेकर दी गई सामग्री भी पठनीय है। यह केवल रस्मी नहीं लगती जैसा कि कई पत्रिकाओं में अक्सर होता है।

सत्यानन्द शर्मा, सोलन, हि० प्र०

अंक-31 में कविताएं अपेक्षाकृत अच्छी हैं। श्री निवास श्रीकांत, मधुकर भारती व श्रीवत्स की कविताएं अपना प्रभाव छोड़ती हैं। चीनी कविता सबसे अच्छी लगी। श्री सुन्दर लोहिया ने कहानी वाले लेख पर चली लम्बी बहस को बहुत शालीनता से विराम दिया है। इतनी बात होने के बाद अब इसे यहीं खत्म कर देना चाहिए क्योंकि पाठकों के सामने सब कुछ स्पष्ट होता गया है। हर रचना को पढ़ना एक समीक्षक के लिए संभव भी नहीं और रचनाकारों में भी कुछ ऐसी क्षमता होनी चाहिए कि अपनी रचनाओं के प्रति समीक्षकों व पाठकों का ध्यान आकर्षित कर सके। वैसे भी नामों की गिनती और पुस्तकों की सूची देना समीक्षक के लिए आवश्यक नहीं होता।

महेश कुमार, कांगड़ा, हि०प्र०

विपाशा के अंक-31 में 'पाहुन' स्तंभ के अन्तर्गत अज्ञेय जी की ऐसी कविताओं का चयन दिया गया है जो उन्होंने अपनी हिमाचल-यात्राओं के दौरान प्रदेश के विभिन्न स्थलों पर अर्जित अनुभवों को लेकर लिखा है। एक बड़े रचनाकार द्वारा प्रदेश का व्यापक भ्रमण ही अपने आप में महत्त्वपूर्ण है और उस पर आधारित रचनाएं अपना अलग आकर्षण रखती हैं। आपने अज्ञेय जी की समस्त कविताओं में से यह चयन प्रस्तुत किया, पाठकों के लिए पठनीय है। उम्मीद है भविष्य में भी 'पाहुन' के तहत इसी तरह की महत्त्वपूर्ण रचनाएं पढ़ने को मिलेंगी। इसी अंक में नागर जी से सम्बन्धित संस्मरण तथा जयशंकर प्रसाद के नाटकों पर लेख उपयोगी हैं।

सीमा गुप्ता, नाहन, हि०प्र०

विपाशा जनवरी-फरवरी, 1990 में तीन चित्र कलात्मक हैं, जबकि आवरण पृष्ठ तीन के चित्र सूचनात्मक हैं। पृष्ठ 2 का लोक-नर्तक पारम्परिक वेशभूषा में तलवार लिए हैं।

हिमाचल प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में लोक नर्तक तलवारों के साथ नृत्य करते हैं और कुछ जगह डांगरु लेकर भी नाचा जाता है। इस तरह के लोक-नृत्य अब दुर्लभ हो रहे हैं और इनके स्थान पर आजकल लोकनृत्य के नाम पर जो नृत्य होते हैं उनमें सब कुछ मिला-जुला होता है। प्राचीन लोक-नृत्यों को सुरक्षित रखना भी अपनी धरोहर को बचाना ही है। ऐसे कलाकारों को बराबर प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए। अंतिम पृष्ठ के चित्र में ताज़ा हिमपात का दृश्य जिंदा हुआ है।

इस अंक की कहानियां सामान्य स्तर की हैं बल्कि कहा जा सकता है कि पाठक को पूरी तरह प्रभावित नहीं करतीं। अधिकांश पत्रिकाओं में आजकल ऐसी ही प्रभावहीन-सी कहानियां पढ़ने को मिलती हैं जबकि पाठकों की कहानियों में विशेष रुचि रहती है।

रघुनन्दन सिंह, कानपुर, उ० प्र०

विपाशा का अंक (30) कविताओं से भरा है। यह कविता के पाठकों के लिए रुचिकर है। आपने बोरिस पास्तरनाक और ओन्द्रा लिसोहोर्सकी से लेकर हिन्दी के कुछ ऐसे कवियों की रचनाएं भी जुटायी हैं जो इधर की पत्रिकाओं में बहुत कम दिखाई देते हैं। हिमाचल के इन कवियों ने प्रभावित किया। उम्मीद है ऐसी छिपी-बैठी प्रतिभाएं आती रहेंगी। समीक्षा के अन्तर्गत भी हिमाचल के अनेक कवियों का जिक्र हुआ है और उनकी चुनी हुई पंक्तियां पढ़ने को मिलीं। इस दृष्टि से विपाशा पहाड़ की ताज़ा हवा लेकर हम लोगों तक आती है और हमें इसकी प्रतीक्षा रहती है। इसकी साज-सज्जा, विशेष रूप से आवरण के चित्रों में भी पहाड़ की प्रकृति और जीवन की छवियां देखने को मिलती हैं। साधुवाद।

रमेश चन्द शर्मा, सैक्टर 14, चण्डीगढ़

विपाशा के कुछ अंक हाल ही में देखने को मिले। आजकल साहित्यिक पत्रिकाएं या तो व्यावसायिकता से ग्रस्त हैं या सरकारीपन दूर से ही झलकता है। विपाशा के इन अंकों की छवि कला पूर्ण, साहित्यिक है और सामग्री भी गम्भीर किस्म की है। इसलिए सरकारी पत्रिकाओं में ही नहीं अपितु सारी साहित्यिक पत्रिकाओं में यह अलग दिखाई देती है।

कृष्णकांत भारद्वाज, बरठी, बिलासपुर

'विपाशा' अंक-31 में श्री बीरबल शर्मा का बुढ़ड़ा लोक नाटक पर एक छायाचित्र छपा है। इससे पहले अंक-29 में डॉ० विद्याचंद ठाकुर का लेख मंडी के नाटकों पर छपा है, उसमें बुढ़ड़ा लोक नाटक पर भी प्रकाश डाला गया है, अच्छा होता यदि यह छाया चित्र भी उसी लेख के साथ छपता। इसमें शक नहीं कि विपाशा पाठकों को विविध प्रकार की सुरुचिपूर्ण एवं ज्ञानवर्द्धक सामग्री उपलब्ध करवा रही है और वह भी नाममात्र के मूल्य में।

हरदीप वर्मा, शिमला

'विपाशा' इस पर्वतीय प्रदेश में हिंदी साहित्य के प्रचार व प्रसार में अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है तथा प्रदेश के साहित्य जगत् की एकमात्र आधारशिला है। पत्रिका का पुराना पाठक होने के कारण मैं यह भली-भांति जानता हूं कि इस जनप्रिय पत्रिका में स्तरीय रचनाएं ही स्थान पाती हैं।

संपादकीय

समाज-सत्य का मर्म

मुझको मिलते हैं अदीब और कलाकार बहुत
लेकिन इंसान के दर्शन हैं मुहाल
दर्द की एक तड़प—
हल्के-से दर्द की एक तड़प
सच्ची तड़प
मैंने अगलों के यहां देखी है···

यह पंक्तियां 'कवियों के कवि' कहलाने वाले शमशेर बहादुर सिंह की हैं। विचार और अनुभव के परिष्कार के साथ जगत और जीवन के सौन्दर्य को जीते रचते हुए, काव्य में घनीभूत संश्लिष्टता के बीच मनुष्य के दर्द की यह तड़प ही शमशेर जी की कविता को मानवता से जोड़ती है।

अपनी रचनाधर्मिता को लेकर 'कुछ और कविताएं' की भूमिका में शमशेरजी ने स्वयं लिखा है, "मेरे कवि ने कभी किसी, 'फ़ार्म', शैली या विषय का सीमा बन्धन स्वीकार नहीं किया। फ़ैशन किन विषयों पर लिखने का है, कौन-सी शैली 'चल रही है', किस 'वाद' का युग आ गया है या चला गया है—मैंने कभी इसकी परवाह नहीं की। जिस विषय पर जिस ढंग से लिखना मुझे रुचा, मन जिस रूप में ही रमा, भावनाओं ने उसे अपना लिया; अभिव्यक्ति अपनी ओर से सच्ची हो, यही मात्र मेरी कोशिश रही।···कवि का कर्म अपनी भावनाओं में, अपनी प्रेरणाओं में, अपने आंतरिक संस्कारों में, समाज-सत्य के मर्म को ढालना—उसमें अपने को पाना है और उस पाने को अपनी पूरी कलात्मक क्षमता से, पूरी सच्चाई के साथ व्यक्त करना है, जहां तक वह कर सकता हो।"

'दूसरा सप्तक' और 'कुछ कविताएं' से शुरू करके वर्ष 1988 में शमशेर जी का सातवां कविता-संग्रह 'काल तुझसे होड़ है मेरी' प्रकाशित हुआ था। शमशेर जी का यह अस्सीवां चल रहा है। इस शिल्प सिद्ध कवि के स्वास्थ्य लाभ और दीर्घायु की कामना के साथ इस अंक में उनका 'साक्षात्कार' जा रहा है।

श्रीनारायण चतुर्वेदी के हिन्दी प्रेम और इस भाषा के विकास तथा बहुआयामी समृद्धि के लिए कृत कार्यों से कौन परिचित नहीं ! उन्होंने अपना सारा जीवन हिन्दी के लिए ही समर्पित कर दिया। हिन्दी के अनन्य साधक चतुर्वेदी जी का हाल ही में निधन हो गया है। उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर विस्तार से प्रकाश डालने वाला श्री कमलापति मिश्र का संस्मरण लेख दिवंगत के प्रति श्रद्धा-स्मरण के साथ इसमें शामिल है।

पिछले अंकों से हिमाचल की लोक-नाट्य परम्परा को लेकर जो लेख-श्रृंखला शुरू की गई है, पाठकों ने इसका भरपूर स्वागत किया है। वैसे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, में लोक-नाट्य को लेकर समय-समय पर सामग्री प्रकाशित होती रहती है और कुछ पुस्तकें भी इस विषय पर छपी हैं। बहुधा यह देखा गया है कि कुछ लोगों से पूछकर, कुछ पूर्व प्रकाशित पढ़कर और कुछ सरसरी तौर पर देखकर एक नया लेख तैयार हो जाता है। शहरों में बैठकर सुदूर अंचलों की लोक कलाओं को लेकर लिखने का यह प्रचलन बहुत सटीक नहीं जान पड़ता। लेकिन यहां हमारी यह कोशिश है कि प्रत्येक क्षेत्र के लोक-नाट्य पर ऐसे अधिकारी लेखक से लिखाया जाए जो स्वयं उस क्षेत्र से सम्बन्ध रखने के फलस्वरूप क्षेत्र विशेष की लोक कलाओं का गहरा ज्ञान रखता है और जिसने स्वयं जनजीवन के बीच रहकर गहरा अनुभव पाया है। ऐसा करने से जो सामग्री उपलब्ध हो रही है उसमें मौलिकता और विश्वसनीयता रह सकेगी। डॉ० विद्याचन्द ठाकुर तथा डॉ० गौतम व्यथित के लोक-नाट्य विश्लेषण के बाद इस अंक में श्री मौलूराम ठाकुर का लेख 'कुल्लू क्षेत्र की लोक-नाट्य परम्परा' अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। ठाकुर जी लोक कलाओं पर लम्बे समय से लिखते रहे हैं और कुल्लू की सांस्कृतिक विरासत को इन्होंने स्वयं जिया भी है। इस लेख को इन्होंने जो विस्तार दिया है। इसमें जीवन के कुछ बहुत रोचक प्रसंग आए हैं। सम-सामयिक समस्याएं व आचार-व्यवहार किस तरह समय के साथ लोक कला और लोक कविता से जुड़ जाते हैं, जीवन के दुःख-सुख लोक कलाओं में किस तरह प्रतिबिम्बित होते हैं, यह सारी प्रक्रिया इस विश्लेषण में सोदाहरण देखी जा सकती है।

'देशान्तर' में नाइजीरिया के शीर्ष रचनाकार चिनुआ अचेबे की कहानी तथा कुछ कवियों की कविताएं व पुस्तकों की समीक्षा जैसी नियमित सामग्री भी इसमें गई है।

tharahkardu.in

साक्षात्कार

होने वाले महाकवि के लिए

□ शमशेर बहादुर सिंह से महावीर अग्रवाल की बातचीत

महावीर अग्रवाल : आपने अपने लेख 'होने वाले महाकवि के लिए' में क्लासिक्स का व्यापक अध्ययन और अनेक भाषाओं के साहित्य से गहरा परिचय अनिवार्य माना है। इन सबके बिना भी तो नये कवि अपने समय के यथार्थ और संघर्ष को व्यक्त करने में सफल हो रहे हैं, दो चार कवियों के संबंध में आपने इसे स्वीकार भी किया है ?

शमशेर बहादुर सिंह : हां, गोरख पाण्डेय की रचनाओं में एक जेनुइन रचनाकार की तड़फ मैंने महसूस की है। इसी तरह आलोक धन्वा को भी मैं एक अच्छा कवि मानता हूं। रमेश रंजक ने शानदार गीत लिखे हैं फिर श्रीकान्त वर्मा, जगूड़ी, चन्द्रकांत देवताले, राजेश जोशी, मंगलेश डबराल की कविताओं में कभी-कभी चमक दीख पड़ती है। यह सही है कि कुल मिला कर आज के ये कवि सामाजिक यथार्थ और संघर्ष को वाणी दे रहे हैं। परन्तु यही सब कुछ नहीं है। आक्रोश तो मुक्तिबोध की कविताओं में भी है परन्तु उन्होंने बहुत धीरज से उन कविताओं को लिखा है। वे एक-एक कविता पर महीनों काम करते हुए उसे मांजते थे। वैसी गहराई और संवेदना की व्यापकता नये कवियों में बहुत कम नज़र आती है। उसके स्थान पर आक्रोश और आलोचना का स्वर अधिक मुखरित होता हुआ प्रतीत होता है। बड़बोलापन बहुत है।

यह ज़रूर है कि आज का कवि, यथार्थ के धरातल पर जो कुछ भोग रहा है, समाज जो अत्यन्त उत्पीड़ित दशा में है, उसे अपनी कविताओं में सामने रख रहा है, ईमानदारी के साथ लिख रहा है, पर अभिव्यक्ति के शिल्प में वह बहुत कमज़ोर है। कविता के तकनीकी पक्ष पर ज्यादा ध्यान नहीं देता है। हमारे नए कवि अनुभव को अर्जित करने की दिशा में प्रयासरत नहीं दीखते। अधिकांश कवियों में पुनरावृत्ति का दोष है और कुछ तो एक दूसरे को ही रिपोर्ट करते दीखते हैं। आज जिस संलग्नता की ज़रूरत है वह तो बहुत कम दिखाई देती है। इसके अनेक कारण हैं, उसमें से एक बड़ा कारण यह भी है कि, ये पढ़ते नहीं हैं या बहुत कम पढ़ते हैं। कला के विभिन्न अंगों के बारे में उनकी जानकारी गहरी नहीं है।

हमारे नए कवि जो सामाजिक यथार्थ को व्यक्त करने में सफल हो रहे हैं ये निश्चित रूप से अच्छे कवि हैं, परन्तु ये सब महाकवि नहीं हैं। 'होने वाले महाकवि के लिए' तो आज भी मैं यह मानता हूं कि क्लासिक्स का व्यापक अध्ययन और विभिन्न भाषाओं के साहित्य से उसका गहरा परिचय अनिवार्य है। होता यह है, उर्दू में एक दौर वह भी था जब लोग बूढ़े हो जाते थे और दीवान नहीं छप पाता था। अपने उस्तादों से उनकी सीखने की ललक बनी रहती थी। आजकल तो यह प्रवृत्ति कहीं भी दिखलाई नहीं पड़ती। ज्ञान की प्यास और कुछ पाने की तड़फ

भीतर से जब तक नहीं फूटेगी तब तक समर्पण का वह भाव कहां से आएगा जो अच्छे कवि को होने वाले महाकवि की दिशा में आगे बढ़ा सके। हमारे जो नए कवि हैं उनमें आज के यथार्थ को भोगने, उसको महसूस करने की, उसको नाटकीय ढंग से कविता में प्रचारित करने की, उसके माध्यम से पाठक को चौंकाने की क्षमता बहुत है लेकिन अपने अनुभव को सही ढंग से विश्लेषित करने की चेष्टा बहुत उथली है। कविता मैं उसे अच्छी समझता हूं जो विचार ही नहीं, कविता का आनंद, रस और गहरी काव्यानुभूति भी दे।

महावीर अग्रवाल : आपको हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा का महत्त्वपूर्ण कवि माना जाता है। साथ ही यह भी कहा जाता है कि, आपकी कविताओं में प्रेम और प्रकृति का चित्रण अधिक है जबकि आक्रोश और संघर्ष का स्वर बहुत कम है। आपकी कविताएं दुरूह भी मानी जाती हैं ?

शमशेर बहादुर सिंह : यह तो अपने-अपने सोचने और विचार करने का तरीका है। मेरी अपनी कविताओं में जो आत्माभिव्यक्ति है उसमें दिखावा नहीं है, वरन् अनुभूति की गहराई है। मेरी अपनी प्रकृति है। फिर मेरी कविताओं में सभी ऐसा नहीं हैं जिन्हें दुरूह कहा जा सके। अब प्रश्न यह है कि पाठक उन्हें कहां तक छू पाता है, पकड़ पाता है। मैंने जो माध्यम चुना, वह कविता के साथ-साथ, कविता के ही अन्तर्गत एब्स्ट्रेक्ट पेण्टिग का था। मैं शुरू से ही एब्स्ट्रेक्ट पेण्टिग से प्रभावित था। उसकी भी एक भाषा है, मुझे वह सुगम लगती है। मैं उसका शब्दों में प्रयोग करता हूं। इसने मेरी एक शैली बना दी। नेरूदा के अतिरिक्त आप रवीन्द्र नाथ टैगोर को देखें—पहले के कवि एक समय बेहद दुरूह माने गए और बाद में वे ही सरल हुए और परम्परा के अंग बन गए—ब्राउनिंग, नेरूदा टैगोर आदि। यदि इनकी शैली, शब्दावली, कथ्य का ढंग, आप इससे परिचित नहीं हैं, उनका अध्ययन नहीं है, तो वे दुरूह लगेंगी ही; जैसे शास्त्रीय संगीत है, जो उससे परिचित नहीं है, उसे वह दुरूह लगता है, बोर करता है, लेकिन जो उससे परिचित है, उसे वह अलौकिक आनन्द प्रदान करता है। तुलसी का रामचरित मानस भी देखिए। अपने यहां निराला और मुक्तिबोध ने जो धरोहर छोड़ी है उनके सामने मेरी दुरूहता कुछ भी नहीं है। और फिर मैंने तो अपने संग्रह 'चुका भी हूं नहीं मैं' की भूमिका में स्वयं लिखा है, "अपनी काव्यकृतियां मुझे दरअसल सामाजिक दृष्टि से कुछ बहुत मूल्यवान नहीं लगतीं। उसकी वास्तविक सामाजिक उपयोगिता मेरे लिए एक प्रश्नचिह्न-सा ही रही है, कितना ही धुंधला सही।" मैंने अपनी कविताओं में वस्तुतः बिंब या प्रतीक की व्याख्या न करके उसे पाठक के ऊपर ही छोड़ दिया है। जो उसमें से कथ्य तक पहुंच सके उनके लिये कविताएं उपयोगी और सार्थक होंगी।

महावीर अग्रवाल : बच्चों के लिए बहुत कम साहित्य लिखा जा रहा है। आने वाले कल के लिए बाल-साहित्य की रूपरेखा आपके मन में कैसी है ?

शमशेर बहादुर सिंह : बच्चे के लिए बच्चा बनना पड़ेगा। उनकी उमंग को उनके उत्साह को जो रचना गुदगुदी की तरह प्रेरित करेगी वही उनके लिए सार्थक होगी। बच्चों के लिए लिखी जाने वाली रचनाओं में अद्भुत बात और एक्शन का होना भी ज़रूरी है। आजकल जो कामिक्स छप रहे हैं उसका प्रभाव कम अच्छा पड़ता है, उनमें एकरूपता बहुत रहती है। हमें कुछ सहज, सरल और प्रेरणादायी साहित्य रचना होगा। कुछ पौराणिक, कुछ ऐतिहासिक कुछ तिलस्म संबंधी, कुछ जादुई और कुछ परियों की कहानियों का, अच्छे चुटकुलों का समा-

वेश किया जाना चाहिए। बचपन में एक कविता 'दशरथ विलाप' की कुछ पंक्तियां मुझे अभी तक याद हैं। मैं इसे ही उस रचना की ताकत और सफलता मानता हूं। वे पंक्तियां इस प्रकार हैं—

कहां हो ऐ हमारे राम प्यारे,
अकेला छोड़कर वन को सिधारे।
बुढ़ापे में यह दुख भी देखना था,
इसी को देखने को मैं बचा था।
जो डरती थी देखकर मिट्टी का चीता
वह वन-वन फिर रही है आज सीता।

ये पंक्तियां इतनी मार्मिक थीं कि इन्हें पूरा पढ़ने से पहले ही मुझे रुलाई आ जाती थी। उस समय कोर्स की किताबें भी बहुत अच्छी थीं। उस ज़माने में अच्छे साहित्यकारों की मार्मिक रचनाएं ही कोर्स में रखी जाती थीं। तीसरे और चौथे दर्जे में जो अंग्रेज़ी की किताबें थीं, उनमें बड़ी हॉटिंग कविताएं थीं, जो बच्चे को सीधे कल्पना लोक में उड़ा ले जाती थीं। आजकल कोर्स में गद्य और पद्य के इतने घटिया अंश रखे जाते हैं (प्रसिद्ध रचनाकारों को छोड़कर) कि बच्चों में शुरू से ही गलत संस्कार पड़ते जाते हैं। सुभद्रा कुमारी चौहान ने बहुत अच्छी कविताएं लिखी हैं। नरेन्द्र शर्मा, पंत और नागार्जुन ने भी कम, लेकिन बेहतर लिखा है। अरेबियन नाटक हम स्कूल के दिनों में ही पढ़ गए हैं। लय और ताल में रची बसी सहज कविताएं बच्चे बहुत पसंद करते हैं। 'अरेबियन नाइट' हम स्कूल के दिनों में ही पढ़ गए थे। बच्चों के लिए पुरानी गाथाओं के सचित्र और अच्छे एडीशन निकलने चाहिए। छोटी उम्र के लड़के-लड़कियों को नाटक बहुत अच्छे लगते हैं। दूरदर्शन पर बच्चों के कुछ नाटक मैंने देखे हैं, प्रस्तुति और कथ्य की दृष्टि से बहुत अच्छे लगे। बच्चों की वेशभूषा भी आकर्षक थी। मैंने भी इस दिशा में थोड़ी कोशिश की है। अपनी पुस्तकों में अपनी सबसे अच्छी किताब 'आश्चर्य लोक में एलिस' को मानता हूं। बड़े और प्रसिद्ध रचनाकार इस दिशा में सोचें और बच्चों के लिए लिखें तो बच्चों के लिए भी बहुत अच्छा साहित्य आ सकता है। ये बच्चे ही तो हमारा भविष्य हैं। इनके कांधों पर ही तो दुनिया खुशहाल होगी। अब तो मीडिया का प्रभाव लगातार बढ़ता जा रहा है। बच्चों के लिए ऐसा साहित्य हो जिसमें भाईचारा, उदारता, प्रेम और त्याग की शिक्षा सहज रूप से उन्हें मिल सके।

महावीर अग्रवाल : पुरस्कारों का रचनाकारों और आलोचकों पर क्या प्रभाव पड़ता है?

शमशेर बहादुर सिंह : पुरस्कारों का प्रभाव बहुत व्यापक होता है, कभी यह तुरन्त असर दिखाता है और कभी बहुत धीरे-धीरे प्रभाव डालता है। यह अच्छा भी होता है और बुरा भी। यह तो मानते ही हैं लोग कि, कवि की स्थिति को ये पुरस्कार और सम्मान पुष्ट करते हैं। यह स्वाभाविक भी है लेकिन इसका प्रभाव कवि पर सर्वथा श्रेयस्कर ही होगा यह मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता। ये पुरस्कार कवि को सावधान भी करते हैं और उसकी गति को कुछ मंद भी करते हों तो कोई आश्चर्य नहीं!

इस पुरस्कार से आप ठीक-ठाक रह सकते हैं। भौतिक सुविधाएं जुटा सकते हैं। माली हालत थोड़ी सुधर जाती है। मुझे भी कई पुरस्कार मिले हैं, परन्तु मैं समझ रहा हूं आप

'मैथिलीशरण गुप्त' और 'कबीर सम्मान' को सामने रखकर भी चर्चा कर रहे हैं। मैं अपने सिलसिले में यह कह दूं कि मुझे बेहद संकोच हुआ इन पुरस्कारों को ग्रहण करने में। इसके आदी नहीं हैं हम। सारी जिंदगी बीतने पर ये पुरस्कार मिले हैं।

आलोचक की दृष्टि में भी फर्क तो आता ही है। मैं अपने कवि से यह कहता हूं कि वह पुरस्कार से गर्वोन्नत होकर अपने रचनाकर्म के प्रति कम गंभीर न हो जाय। जनता के प्रति जो दायित्व है उसे कवि को नहीं भूलना चाहिए। दिल की आज़ादी एक रचनाकार की विशिष्ट संपत्ति है। यह संपत्ति उसकी रचनाओं में सुरक्षित होती है। कई बार ये पुरस्कार उसमें बाधा डालते हैं। रचनाकार की रचनात्मक आज़ादी छिन जाती है और यह एक रचनाकार बर्दाश्त नहीं कर पाता, उसे पीड़ा होती है। और भीतर ही भीतर उसे यह सम्मान आकर्षित भी करता है, वह मगन भी होता है।

महावीर अग्रवाल : आपने अभी कहा कि, कवि को जनता के प्रति अपना दायित्व नहीं भूलना चाहिए। इसे अधिक विस्तार से स्पष्ट कीजिए ?

शमशेर बहादुरसिंह : देश की संस्कृति और विचारधारा के स्वस्थ विकास में कविता भी एक माध्यम है। साहित्यकारों की अपनी एक भूमिका होती है। बंगाल के अकाल से बहुत से कवि प्रभावित हुए उन्होंने बहुत सजीव और यादगार रचनाएं लिखीं। ऐसे ही मंहगाई भ्रष्टाचार आदि विषयों को अनेक कवियों ने माध्यम बनाया। दहेज और दंगों के विरोध में कविताएं लिखी जा रही हैं। यह अच्छा शगुन है कि कवि और कलाकार देश की दशा से प्रभावित होकर भी कविताएं लिखते हैं, उन्हें अच्छी दाद देनी चाहिए। कई बार जनता इन्हें महत्व नहीं देती परन्तु जनता हिस्सा ज़रूर लेती है।

सर्वाधिक महत्व का काम इस दिशा में नागार्जुन ने किया है। शायद ही कोई राजनैतिक, सामाजिक समस्या हो जिस पर उन्होंने कविता न लिखी हो। विसंगतियों और विद्रूप पर लगातार नज़र रखते हुए उस पर प्रहार किया है। बड़े से बड़े सत्ताधारी, राजनीतिज्ञ को भी नहीं बख्शा है। यह मुंहफट कवि अक्सर मुझे सबसे बड़ा, सुलझा हुआ, सबसे आधुनिक, सबसे जागरूक कवि लगता है। उनकी कविताओं में शासन और समाज का भ्रष्टाचार और पाखंड और पूंजीवादी तत्वों की बर्बर हिंसात्मक लिप्सा अपने नग्न रूप में सामने आती है। शील दूसरे विशिष्ट कवि हैं, जिनका दिल जनता के साथ धड़कता है। शील को मंच पर सुनकर उनके तेवर में, उनकी रचनाओं में, जनता के प्रति दायित्व का भाव अलग ही नज़र आता है। गोरख पाण्डेय इस दृष्टि से बहुत लाजवाब कवि हैं।

मैं इस पक्ष में विशेष नहीं कि लोग अधिक राजनीतिक कविताएं लिखें। 'फन' पर कुछ थोपा न जाय, परन्तु हृदय से निकले तब लिखें। जैसा लिखते हैं वैसा जीवन जीयें। हिन्दी से अधिक उर्दू में रचनाएं लिखी गई हैं। फिराक, अमरूह, कैफी आज़मी, फैज़ अहमद फैज़ की रचनाओं में रचनाकार का दायित्व साफ नज़र आता है। कविता का स्तर उर्दू में उठा है। जनता के प्रति दायित्व के लिए कठोरता से कार्यक्रम नहीं बनाया जा सकता। यह तो समझने और अहसास करने की बात है। कवि अपने दायित्व को अपने भीतर की आवाज़ पर निर्भर होकर अपने विवेक के आधार पर निर्धारित करता है। मुझे लगता है हिन्दी कविता गांव या देहात की ओर मुड़ेगी।

महावीर अग्रवाल : एक ओर रूस में गोर्बाचोव का पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोस्त का

उदारवादी दृष्टिकोण विकसित हो रहा है। दूसरी ओर पूर्वी यूरोप में वामपंथी सरकारों में तेजी से परिवर्तन हो रहे हैं। यह सब देखकर बहुत से लोग कहते हैं कि मार्क्सवाद असफल हो गया। आपका इस संबंध में क्या विचार है ?

शमशेर बहादुर सिंह : मार्क्सवाद असफल नहीं हो गया वह तो अपने विकसित होने की प्रक्रिया में है। मार्क्सवाद हमें बहुत ऊपर ले जाता है। मार्क्स ने तो निरंतर परिवर्तन और संशोधन पर बल दिया था। चीन में जब व्यापक परिवर्तन हुए तब मैंने अपने एक साक्षात्कार में कहा था, "चीन का युवा वर्ग और आम जनता उस 'वुडेननेस' के खिलाफ हो गई है जो कम्युनिस्ट नेताओं में घर कर गई है। कम्युनिस्टों के पुराने, हठी और पत्थरनुमा चरित्र के विरुद्ध जनता कहीं न कहीं विचारों की मुक्ति चाहती है, जीवन में सकारात्मक, संवेदनात्मक आज़ादी की मांग करती है।" एक लेखक के रूप में मार्क्सवादी होना ज़रूरी है, इस तथ्य को मैं व्यावहारिक रूप में मानता हूं। मैंने मार्क्सवाद को पढ़ा, प्रगतिशील आंदोलन से जुड़ा, मार्क्सवादी साहित्य का अनुवाद किया और सन् 1940-41 से लेकर अब तक इस धारा का समर्थक रहा हूं। मुझे यह स्वीकारने में भी कोई संकोच नहीं है कि मार्क्सवाद ने मुझे अपनी भावनाओं के विश्लेषण में और विभिन्न धर्मों में संस्कृतियों को समझने में मेरी सहायता की है।

इसके बाद भी जब मैंने कम्युनिस्ट पार्टी छोड़ी तब एक साक्षात्कार में पार्टी छोड़ने का कारण मैंने बताया था कि जिस ढंग से कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं, देशी नीति निर्धारकों ने इसे लिया वह संभवतः सही नहीं रहा। एक रचनाकार कलाकार इस 'इज़्म' को आगे किस प्रकार से ले इसकी कोई दिशा इन नेताओं के पास नहीं थी। वहां स्थिति यह है कि एक कार्यकर्ता जिस तरह से कम्युनिस्ट साहित्य, पर्चा, पुस्तिका, भाषण आदि पढ़े वैसे ही एक रचनाकार भी पढ़े। यह गलत है। प्रबुद्ध मानसिकता के लोगों के साथ ऐसा नहीं होना चाहिए—यह लाईन ठीक नहीं है। इससे रचनाकार की रचनात्मकता को हानि होती है। उनके साथ यह दिक्कत है कि वे एक ही पर्चा या लेख बार-बार पढ़ेंगे, रूसी, फ्रेंच या अंग्रेजी से बार-बार पढ़ेंगे। लेकिन वे निराला, प्रेमचंद, कबीर, गालिब, गोर्की, नेरूदा, मायकोवस्की यानी बड़े रचनाकारों को नहीं पढ़ेंगे। वे संभवतः यह समझ नहीं पाते कि एक बड़ा रचनाकार किस तरह अंततः जनता की ही सेवा करता है। अपने सम्मेलनों तक में वे बड़े रचनाकारों को राजनीतिक नेताओं के साथ बराबरी का दर्जा देते हुए नहीं बुलाते। यह स्थिति अच्छी नहीं है। इस स्थिति के बदलने की संभावना भी तब तक नहीं दीखती थी।

सच तो यह है कि विचारधाराएं भी अगर रूढ़ियों या परम्पराओं में जकड़ दी जायं तो वे सड़ांध पैदा करने लगती हैं। किसी भी विचारधारा के जीवित रहने के लिए यह लाजिमी है कि उसमें परिवर्तन और संशोधन का प्रवाह बना रहे। मार्क्सवाद एक लोककल्याणकारी और वैज्ञानिक विचारधारा है। मार्क्सवाद के मूल में जो व्यक्ति की सकारात्मक आज़ादी का पक्ष छिपा है उसे ठीक से समझे बिना मनुष्य की बराबरी के समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। यह बात कम्युनिस्ट नेताओं को अब समझनी होगी। मार्क्सवाद के बुनियादी पहलू हमें अवश्य प्रेरणा देंगे।

महावीर अग्रवाल : प्रगतिशील लेखक संघ से जुड़े हुए कुछ प्रतिबद्ध साथियों ने इससे अलग होकर नया संगठन बनाया। इन दोनों संगठनों का वैचारिक धरातल एक होने के बावजूद

मतभेद के कारणों में कहीं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा की भूख तो नहीं है ? इस संबंध में आप क्या सोचते हैं ?

शमशेर बहादुर सिंह : संभवतः इन घटनाओं के पीछे इगो (अहं) काम करता है। राजनीतिक दखल होते हैं। ग्रुप्स का अपना-अपना दायरा होता है। अपने-अपने तरीके से सब काम करना चाहते हैं। यह कोई अस्वाभाविक स्थिति नहीं है। बहुत पहले जब प्रगतिशील आंदोलन उभार पर था, उस समय भी कवियों और कहानीकारों में घोर मतभेद था। प्रश्न था, कृतिकार कहां जायेंगे ? 1948 में स्वयं कम्युनिस्ट पार्टी के दो टुकड़े हुए। चीन व रूस में परिवर्तन हुए। मार्क्सवाद कहां है, चीन अथवा रूस में ? माओ, स्तालिन, ख्रुश्चेव, ब्रेजनेव और गोर्बाचोव में सच्चा मार्क्सवादी कौन है ? सब अपनी परिस्थितियों और विचार के अनुसार बेहतर कार्य करते हैं।

महावीर अग्रवाल : प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ का आंदोलन उत्सवधर्मी होता जा रहा है, ऐसा आरोप लगाया जाता है। इस संबंध में आपका क्या कहना है ?

शमशेर बहादुर सिंह : ये दो अखाड़े हैं अलग-अलग। दोनों तरफ हमारे मित्र हैं, पट्ठे तैयार करते हैं। 1936 के आस-पास प्रेमचंद के ज़माने में प्रगतिशील आंदोलन शुरू हुआ था तब केवल आज़ादी का प्रश्न था, देश को आगे ले जाने की बात थी। उसके बाद तो जो साहित्य आया निश्चित रूप से जीवन की उथल-पुथल को व्यक्त करने वाला है। दोनों संगठन वैचारिक स्तर पर अच्छा काम करते हैं। उनकी अपनी कार्यप्रणाली है, फिर भी प्रलेस के भीष्म साहनी का ग्रुप मुझे बहुत कायदे का लगता है। यह जो चेतना विकसित हो रही है बहुत अच्छा शगुन है।

महावीर अग्रवाल : अपनी साहित्यिक यात्रा में आपने रचनात्मक कार्यों में, समाज में, शैक्षणिक जगत में कुछ बदलाव महसूस किया है ? और वह किन रूपों में हुआ है ?

शमशेर बहादुर सिंह : जीवन-मूल्यों में गिरावट बहुत तेज रही है। रचनाकार अपने समय को देखता हुआ, हमेशा समय से आगे चलने की कोशिश करता है। आज रचनाकार संघर्षमय जीवन के अनेक पक्षों की जीवन्त अभिव्यक्ति सामने रखता है। परन्तु उनके व्यक्तिगत जीवन में द्विवेदी युग जैसी स्वस्थ राष्ट्रीय चेतना और आदर्श जीवन की ललक नहीं है। गहरी साधना की कमी है। यह एक सूक्ष्म प्रक्रिया है बहुत बारीक और बहुत कठिन, जिसमें सभी बदल रहे हैं। विक्रम विश्वविद्यालय में प्रेमचंद सृजनपीठ में मैं यह सोचकर गया था कि वहां कुछ काम करूंगा। लेकिन उस माहौल में कुछ काम नहीं हो सकता था। वैसे वहां बहुत से विद्वज्जन और अच्छे लोग भी मिले, साथ ही एकेडेमिक वर्ल्ड में बेशर्मी की हद तक प्रतिद्वन्द्वता और गिरावट है। वहां सृजन और विकृति दोनों के द्वन्द्व में विकृति बढ़ती जा रही है। जीवन के प्रति अविश्वास के कारण सांस्कृतिक परिदृश्य भी अत्यन्त निराशाजनक है। रचनाओं में सामाजिक यथार्थ और संघर्ष की बात आने से क्या होगा ? जब तक वैसा जीवन हम जी नहीं सकते। राष्ट्रीयता, प्रगतिशीलता आज आमतौर पर दिखावटी है। मैं तुमसे पूछता हूं हमारा राष्ट्रीय चरित्र क्या है ? हम दिशाहीनता की संस्कृति की ओर बढ़ रहे हैं। मामला चाहे राजनीति का हो या संस्कृति का, शिक्षण का हो या साहित्य का हमने प्रत्येक क्षेत्र में वस्तुस्थिति को नकारने की कोशिश की है। लूट, देशद्रोह और अराजकता बढ़ रही है।

महावीर अग्रवाल : रचनाकार के लिए सामाजिक दायित्व का बोध बहुत जरूरी माना

जाता है। साम्प्रदायिक दंगों की इस आग को बुझाने में लेखक को अपनी भूमिका किस रूप में अदा करनी चाहिए ?

शमशेर बहादुर सिंह : सचमुच ! बहुत दुखद स्थिति है। मन दुखी हो जाता है। यह सब देखते हुए, सुनते हुए बहुत पीड़ा होती है। राजनीति अपनी कुत्सित धारणाओं का परिणाम भोग रही है। रचनाकार को सामने आना होगा। फील्ड में काम करना होगा। मैं तो पार्टी में रहा तब भी और बाहर रहकर भी हमेशा जनता के साथ रहा—पिछले कुछ वर्षों को छोड़ दें—शारीरिक असमर्थता के दिनों को—तब भी मानसिक तौर पर तो उनके साथ ही रहा हूं। वही अन्ततः दिशा देती है। उनसे कटकर कोई सांस्कृतिक संघर्ष या एकता आप बना नहीं सकते। पर अब मेरी अपनी सीमाएं हैं। मैं युवकों-सा उत्साह नहीं दिखा सकता। हां, नागार्जुन अभी भी इस दिशा में सक्रिय हैं। जहां ज़रूरत होती है वहां पहुंच जाते हैं।

प्रत्येक क्षेत्र में कार्यरत जागरूक नागरिकों, हर क्षेत्र के संस्कृति कर्मियों और रचना धर्मियों के समूचे वर्ग को एक साथ बैठकर विचार करना होगा। गंभीरता पूर्वक रास्ता खोजना होगा। छोटे-छोटे आपसी मतभेदों, व्यक्तिगत हितों और स्वार्थों से ऊपर उठकर देश और समाज के लिए सोचना होगा। केवल दंगों के विरोध में कविता लिखकर, मंच पर से भाषण देकर दंगों की यह आग नहीं बुझाई जा सकती। घर-घर, गली-गली, मौहल्ले-मौहल्ले में जाना होगा, आपसी सद्भाव हेतु वातावरण बनाना होगा। इसके लिए दिन और रात काम करना होगा, लगातार करना होगा। एक बड़े आंदोलन द्वारा ही यह संभव होगा। अब आप लोग समर्थ हैं, देखिए कैसे एकजुट होकर काम करेंगे। देश की भटकती हुई राजनीति की कोख से दंगों का जन्म हुआ है। वही इसे प्रश्रय दे रही है। जनता इसे कुछ-कुछ समझ भी रही है। रचनाकारों को जनता के साथ चलकर, उसके कदम से कदम मिलाकर, उसकी चेतना को विकसित करना होगा।

महावीर अग्रवाल : कला, संस्कृति और रंगमंच के विकाश की दृष्टि से 'भारत भवन' के योगदान को आप किस रूप में देखते हैं ?

शमशेर बहादुर सिंह : 'संस्कृति' शब्द बहुत व्यापक और गहरे अर्थ को प्रतिध्वनित करता है। लोककला, लोक साहित्य, लोकमंच हमारी दैनंदिन समस्याओं के मन्त्र हैं। 'भारत भवन' ने इस बहुविधायुक्त मंच पर रोशनी डाली है। कलाकारों और रचनाकारों को पहचानने, उन्हें सम्मानित करने, प्रकाश में लाने और दुर्लभ कृतियों को संरक्षित करने का प्रयास किया है। यह लोकव्यापी और लोक जागरण की दिशा में कला और संस्कृति के क्षेत्र में बेहतर शुरूआत है। यह सही है कि 'संस्कृति में राज्य का हस्तक्षेप वांछनीय नहीं है, परन्तु सत्ता हमेशा संस्कृति के विरुद्ध नहीं होती। कभी-कभी सही काम भी करती है। मध्यप्रदेश में सत्ता ने सांस्कृतिक क्षेत्र में गहरी रुचि ली है, परन्तु वह संस्कृति के मानदंड तो निर्धारित नहीं कर रही है। अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कोई बंदिश 'भारत भवन' में नहीं है। यदि आप समझते हैं ऐसा हो रहा है तो जाकर देखिए और फिर कहिए। मैथिलीशरण गुप्त ने एक पत्र में लिखा है, "प्राय आक्षेप किया जाता है, हिन्दी वालों को कोई पूछता नहीं। अपने शासन की भी एक ओर भर्त्सना की जाती है, दूसरी ओर सत्ता कुछ करने जाती है तो उसे कवियों, किंग लेखकों को क्रय करना कहा जाता है। किसी पक्ष की आलोचना तो ठीक है परन्तु उसकी कठिनाइयों का ध्यान न रखना भी क्या उचित है ?"

भारत भवन की यह शुरूआत मध्य प्रदेश सरकार की पहल पर देश के जाने माने बुद्धिजीवियों और कलाकारों के सहयोग से हुई है। देश के बड़े-बड़े ख्यातिलब्ध प्रमुख साहित्यकारों, संगीतकारों, रंगकर्मियों, लोककलाकारों, कलाकारों, नर्तकों, नृत्यांगनाओं, चित्रकारों और रचनाधर्मियों ने सैकड़ों, हजारों की संख्या में भागीदारी की है। अभी तक जो अवहेलना होती रही है वह अब नहीं होगी ऐसा लगता है। लोक नृत्य और लोक कला को इसके पहले इस रूप में कौन पूछता था? नृत्य का भी मान होने लगा। संगीत के लिए 'लता मंगेशकर सम्मान, द्वारा पब्लिक की रुचि के अनुसार जिन्होंने श्रेष्ठता सिद्ध की है उन्हें सम्मानित किया जाता है। हिन्दी साहित्य, ललित कलाओं, रंगमंच, नृत्य, संगीत के बड़े-बड़े और सार्थक आयोजन लगातार हो रहे हैं। सामान्य पाठकों का, आम जनता का, और बुद्धिजीवियों का ध्यान इन्होंने अपनी ओर खींचा है। असहमति व आलोचना स्वाभाविक है, होनी भी चाहिए। त्रुटि निकालना या निन्दा करना आसान है, रचनात्मक कार्य करना बहुत कठिन होता है, इसलिए तथ्यों को जाने बिना आलोचना ठीक नहीं होती।

हम अस्सी साल के हो रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह गंभीर समय होता है। लोग राम नाम की माला जपते हैं, तीर्थाटन करते हैं या घर में उपेक्षित पड़े रहते हैं। मैंने स्थिति के बीच रहकर मूल्यांकन किया है, इसलिए अच्छा समझता हूं। जो कुछ भी 'भारत भवन' में हो रहा है उसमें कमियां और खामियां हो सकती हैं लेकिन अशोक वाजपेई का प्रयत्न और साहस प्रशंसनीय है। वह कला प्रेमी है। उसमें जातीय हविश नहीं है कि मैं लाभ उठा लूं। राजनीतिक विरोध और खेमेंबाजी तो चलती ही रहती है। पर मुझे अशोक खुले और मानवीय दृष्टिकोण वाले लगते हैं। हमेशा जिम्मेदारी के साथ अपना दायित्व निभाते हैं। भारत में ऐसा काम पहली बार हुआ है, अच्छा काम हुआ है। संस्कृति के विकास के लिए सभी राज्यों में होड़ हो रही है। रूस में भी यह क्रियाकलाप बहुत सराहा गया है।

हिन्दी के समर्पित साधक : श्रीनारायण चतुर्वेदी

□ कमलापति मिश्र

स्वर्गीय पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी वस्तुतः लोकोत्तर महापुरुष थे। उनका चरित आद्यन्त कर्मनिष्ठ, निःसंग, प्रेरक और सर्वथा अनुकरणीय रहा। वर्तमान युग में शायद ही कोई दूसरा उनकी कोटि का ऐसा मनीषी और मनस्वी हो, जो अपनी मातृभाषा के विकास और उन्नयन के लिए पल-प्रतिपल सजग रहा हो। चतुर्वेदी जी के जीवन का मुख्य व्रत या तप था—हिन्दीनिष्ठा।···वे 'भैया साहब', 'श्रीवर' और 'श्रीविनोद शर्मा' के नाम से तो बहुत ही लोकप्रिय हुए।

28 सितम्बर, 1893 को उत्तर प्रदेश के इटावा-जनपद में चतुर्वेदी जी का जन्म हुआ। उनका जीवन-वृत्त डॉ० उदयनारायण तिवारी के शब्दों में इस प्रकार है :

"पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी भारद्वाज गोत्रीय सामवेद की राणायणी शाखा के माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण हैं। इनके परिवार के मूल पुरुष परम वैष्णव श्रीगोविन्द दास थे, जो ग्वालियर दुर्ग के समीप स्थित शंकरपुर-ग्राम के निवासी थे। श्री गोविन्ददास ग्वालियर से यमुना के इस पार आकर इटावा के छिपैटी मुहल्ले में बस गए। इनका मूल आस्पद पांडेय था। भैया साहब के प्रपितामह परम वैष्णव श्री श्रीमन्नारायण जी नैष्ठिक ब्राह्मण एवं विद्वान् थे। उन्होंने "राम चरित मानस' का संस्कृत में अनुवाद किया था। श्री श्रीमन्नारायण जी के पुत्र श्री चतुर्भुज दास जी संस्कृत के अगाध पांडित्य के लिए प्रसिद्ध थे।···श्री चतुर्भुज दास जी के कनिष्ठ पुत्र चतुर्वेदी द्वारका प्रसाद शर्मा थे। यही पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी के पूज्य पिता थे।

पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी का शैशव-काल प्रयाग में ही अच्छे वातावरण में व्यतीत हुआ और यहीं पर इनकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा हुई।···यशस्वी कर्मवीर श्री सुन्दरलाल जी इनके अध्यापक थे। वे अत्यन्त उग्र राष्ट्रवादी तथा लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के अनुयायी थे। चतुर्वेदी जी पर सुन्दरलाल जी का अत्यधिक प्रभाव पड़ा।

महामना मदनमोहन मालवीय एवं बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन चतुर्वेदी जी के पिता के निकट के व्यक्तियों में से थे। अतः चतुर्वेदी जी पर इनका प्रभाव स्वाभाविक था। उस समय प्रयाग उग्र एवं उदार दो प्रकार के राजनैतिक विचारों का केन्द्र था। एक ओर सर तेजबहादुर सप्रू, सी० वाई० चिन्तामणि—जैसे उदार दल के नेता प्रयाग में निवास करते थे, तो दूसरी ओर सुन्दरलाल एवं पुरुषोत्तमदास टंडन जैसे उग्रवादी नेता यहां मौजूद थे। मालवीय जी इन दोनों के मध्य में थे। वे 'मझिमा प्रतिपदा' के अनुयायी थे और उनका दोनों दल के लोग सम्मान करते थे। किन्तु उनके भतीजे पंडित कृष्णकान्त मालवीय एवं उनके वयोवृद्ध सहयोगी

पंडित बालकृष्ण भट्ट तिलक के अनुयायी थे। इस स्थिति के बावजूद, धीरे-धीरे इलाहाबाद का बुद्धिजीवी वर्ग सन् 1907 के कांग्रेस के अधिवेशन के बाद उग्र राजनीति की ओर अग्रसर हो रहा था।

शिवराखन पाठशाला में अपना अध्ययन समाप्त कर चतुर्वेदी जी ने यहां के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में प्रवेश लिया। यहां उनको सहपाठी के रूप में पंडित अमरनाथ झा मिले।...

उन दिनों इलाहाबाद विश्वविद्यालय में मैट्रीकुलेशन की परीक्षा होती थी। चतुर्वेदी जी को इस परीक्षा में हिन्दी में विशेष योग्यता के अंक मिले थे। इंटर में अध्ययन के लिए चतुर्वेदी जी इविंग क्रिश्चियन कालेज में चले गए और वहीं से इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण हुए। अब तक वे विज्ञान के छात्र थे। किन्तु बी० ए० में कला (आर्ट्स) के छात्र हो गए। उन दिनों अंग्रेजी के विशेष अध्ययन पर बल था और चतुर्वेदी जी ने अंग्रेजी साहित्य का गम्भीर अध्ययन किया। उस समय इविंग क्रिश्चियन कालेज के प्रिंसिपल डॉ० जैनिवर थे, जिनकी चतुर्वेदी जी पर विशेष कृपा थी। चतुर्वेदी जी इसी कालेज से बी० ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे और इसके बाद वे वहीं पर यमुना मिशन स्कूल में अध्यापन-कार्य में प्रवृत्त हुए। तब तक इलाहाबाद में विश्वविद्यालय आजकल की भांति शिक्षण-संस्था के रूप में विकसित नहीं हुआ था। वहां एम० ए० का अध्यायन सायंकाल होता था। चतुर्वेदी जी इसी रूप में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और वहां मे इतिहास विषय में एम० ए० में उत्तीर्ण हुए। इसके बाद वे एल० एल० बी० में प्रवेश लेना चाहते थे। किन्तु उस समय शिक्षा-विशेषज्ञ क्लाड डिलाफोस के परामर्श से वे दीक्षा-विद्यालय (ट्रेनिंग कालेज) में प्रविष्ट हुए। उन दिनों पूरे प्रदेश में केवल एक ही दीक्षा-विद्यालय प्रयाग में में था। इसके प्रिंसिपल मेकेंजी साहब थे। योग्य छात्रों की वे बड़ी सहायता करते थे। वे श्री सम्पूर्णानन्द जी के भी गुरु रह चुके थे। एल० टी० के बाद उन्होंने चतुर्वेदी जी की नियुक्ति सरकारी स्कूल में करा दी। किन्तु चतुर्वेदी जी वहां नहीं गए। तदुपरान्त वे कान्य-कुब्ज स्कूल, लखनऊ में हैडमास्टर नियुक्त हुए और इस कालेज को इंटर तक की मान्यता प्राप्त करायी।

चतुर्वेदी जी ने अत्यधिक परिश्रम से कान्यकुन्ज कालेज के शैक्षणिक एवं प्रशासनिक स्तर को ऊंचा उठाया, जिसके परिणामस्वरूप उन्हें एक प्रसिद्ध शिक्षाविद माना जाने लगा। प्रदेश-सरकार ने उनकी योग्यता से प्रभावित होकर उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए लन्दन भेज दिया। चतुर्वेदी जी ने बड़ी गम्भीरता से मनोविज्ञान और शिक्षा-शास्त्र आदि का अध्ययन किया। उन्होंने यूरोप, अमेरिका और जापान की यात्राएं की और वहां प्रचलित शिक्षण पद्धतियों का निकट से ज्ञान प्राप्त किया। सन् 1928 ई० में चतुर्वेदी जी स्वदेश लौट आये। कुछ दिनों तक सहायक शिक्षा-निदेशक रहे। किन्तु बाद में वे स्थायी रूप से फैजाबाद एवं गोरखपुर कमिश्नरियों के शिक्षा-निदेशक नियुक्त हो गए। उन दिनों यह बहुत बड़ा पद माना जाता था और बहुत बड़े शिक्षाविदों को ही यह कार्य सौंपा जाता था। अब चतुर्वेदी जी नौ जिलों—फैजाबाद, गोंडा, बहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, बाराबंकी, गोरखपुर, बस्ती एवं आजमगढ़, संभागों के सर्वोच्च शिक्षाधिकारी बन गए। चतुर्वेदी जी जैसे असाधारण प्रतिभा के व्यक्ति केवल कार्यालय और संभागों के निरीक्षण से ही संतुष्ट रहने वाले नहीं थे। उन्होंने एक ओर उत्तर प्रदेश के शिक्षकों का स्तर उठाने का प्रयत्न किया, तो दूसरी ओर छात्रों के विशेष पठन-पाठन की ओर ध्यान दिया। चतुर्वेदी

जी ने फैजाबाद में इंटर तक के उत्तर प्रदेश के हिन्दी अध्यापकों की एक संगोष्ठी की, जिसमें उनके शैक्षणिक स्तर को उठाने के लिए विविध विषयों पर व्याख्यान का प्रबन्ध किया। व्याख्याता के रूप में इस गोष्ठी में वाराणसी के पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पंडित केशव प्रसाद मिश्र, श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, पंडित रामबहोरी शुक्ल, प्रो० राजनाथ पांडेय, प्रो० सत्यनारायण पांडेय आदि थे। उनमें आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल तथा पंडित केशव प्रसाद मिश्र हिन्दी-साहित्य के विविध विषयों के व्याख्याता थे। पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार भारतीय इतिहास के विविध कालों के महत्त्वपूर्ण अंशों पर व्याख्यान देते थे। शेष लोग हिन्दी की पाठन-विधि के व्याख्याता थे।

हिन्दी भाषा की ओर छात्रों की अभिरुचि बढ़ाने के लिए यह आवश्यक था कि उन्हें श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं से परिचित कराया जाय तथा उन्हें शुद्ध रूप से उच्चरित करने का अभ्यास कराया जाय। इसके लिए चतुर्वेदी जी ने प्रदेश भर में अन्त्याक्षरी प्रतियोगिता का प्रबन्ध किया। इस प्रतियोगिता के परिणाम-स्वरूप छात्रों में प्राचीन एवं अर्वाचीन श्रेष्ठ कवियों की कविताओं को पढ़ने की अभिरुचि जागृत हुई।

अपने कार्य-काल में चतुर्वेदी जी ने विद्यालयों में कवि-सम्मेलनों की व्यवस्था की। गोरखपुर में तो उन्होंने जो कवि-सम्मेलन किया था, उसमें लाहौर, हैदराबाद एवं मध्य प्रदेश व नेपाल की तराई तक के कवि एवं विद्वान् सम्मिलित हुए थे। इस कवि-सम्मेलन की यह विशिष्टता थी कि ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली की अनेक शैलियों की उत्कृष्ट कविताओं को लोगों को सुनने का अवसर मिला। कवि-सम्मेलन की बैठकों में भी हज़ारों श्रोताओं की भीड़ थी। ऐसा अखिल भारतीय स्तर का कवि-सम्मेलन उत्तरी भारत में पुनः नहीं हुआ।

चतुर्वेदी जी कुछ दिनों तक अखिल भारतीय आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र के मुख्य अधिकारी थे। उस समय हिन्दी के नाम पर दिल्ली के प्रसारण के लिए जिस भाषा का प्रयोग होता था, वह भ्रष्ट थी और उसको लेकर सर्वत्र असंतोष था। केन्द्रीय सरकार द्वारा इसकी व्यवस्था ठीक करने के लिए चतुर्वेदी जी को संचालक नियुक्त किया गया। चतुर्वेदी जी ने प्रसारण की भाषा को जो एक परिनिष्ठित रूप दिया, वह आज भी उसी रूप में चल रही है।...

सरकारी सेवा में कुछ दिनों तक चतुर्वेदी जी को शिक्षा प्रसार अधिकारी के रूप में कार्य करने का अवसर मिला था। इसी समय उत्तर प्रदेश में सरकार द्वारा साक्षरता-प्रसार का भी अभियान चलाया गया था। इसके लिए चतुर्वेदी जी ने विविध क्षेत्रों की जनभाषाओं का विशिष्ट अध्ययन किया तथा उसके आधार पर कतिपय पुस्तकें भी तैयार कीं। उन्होंने 'रामचरित मानस' का अल्प मूल्य का संस्करण प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त उन्होंने सूर तथा अन्य कवियों की बहुप्रचलित कविताओं का पाठ-रूप में चयन किया। इससे साक्षरता का कार्य कुछ आगे बढ़ा।

उत्तर प्रदेश शिक्षा-विभाग की सेवा से मुक्त होकर चतुर्वेदी जी मध्य भारत के शिक्षा-निदेशक (डाइरेक्टर ऑफ एजूकेशन) नियुक्त हुए। उस समय उन्होंने उत्तर प्रदेश के आदर्श पर ही ग्वालियर में एक माध्यमिक शिक्षा-परिषद् की स्थापना की। जब मध्य भारत का मध्य प्रदेश में विलय हो गया तो इस परिषद् का स्थान भी भोपाल हो गया। आज भी यह परिषद् मध्य प्रदेश के माध्यमिक शिक्षण का कार्य सुचारु रूप से सम्पादित कर रही है।

मध्य प्रदेश-सेवा से मुक्त होकर चतुर्वेदी जी ने पूरे बीस वर्षों तक अत्यन्त योग्यता से

'सरस्वती' का सम्पादन किया तथा इसके उच्च स्तर को बनाये रखने का पूर्ण प्रयत्न किया। अपने कार्यकाल में चतुर्वेदी जी ने इसमें जो सम्पादकीय टिप्पणियां लिखीं हैं, उनका मूल्यांकन हिन्दी-साहित्य के विद्वान् एवं शोध-छात्र ही कर सकते हैं।

औपनिषदिक एवं बौद्ध-दर्शन में जीवन व्यतीत करने के लिए चार तत्त्वों—उपेक्षा, मुदिता, करुणा एवं मैत्री को अत्यावश्यक बतलाया गया है। चतुर्वेदी जी के जीवन में ये चारों तत्त्व वर्तमान हैं। उन्होंने अपने जीवन में किसी को न तो कभी कष्ट दिया और न कष्ट देने वालों को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने का प्रयत्न किया। वे जीवन में अत्यन्त उदार एवं मित्रों के लिए सर्वस्व अर्पित करने के लिए सदैव तत्पर रहे।"

पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी काशीस्थ इन्डियन प्रेस के विशाल प्रांगण में विराजमान थे। उनके चारों ओर तत्कालीन विभूतियां एकत्र होकर परस्पर हास-परिहास में तन्मयतापूर्वक संलग्न थीं। स्वर्गीय कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढब बनारसी' अपनी एक रचना सुना रहे थे—**'उनको देखा था गाड़ी में, कुछ नीली-पीली साड़ी में। वे स्टेशन पर उतर गयीं, मैं उन पर थोड़ा मर न सका।'**—को सुनकर सभी हर्ष-विह्वल हो रहे थे। चतुर्वेदी जी अट्टहासमय स्वरों में बार-बार दुहरा रहे थे—'मैं उन पर थोड़ा मर न सका—मैं उन पर थोड़ा मर न सका। वाह 'बेढब' जी, वाह! कमाल की लालसा रही आपकी!'

चतुर्वेदी जी तीन-चार दिन वहां रुके। उन तीन-चार दिनों का वह सारस्वत संगम मेरे रोम-रोम में अब तक सुरभित है।

कुछ दिनों बाद मेरे एक हितैषी ने मुझे बताया कि इस समय आकाशवाणी, लखनऊ में एकाध स्थान रिक्त हैं। तुम अपनी योग्यता के संबंध में कतिपय विद्वानों के प्रमाण-पत्र संलग्न करके प्रार्थना-पत्र दो, तो हो सकता है कि तुम्हारी नियुक्ति वहां हो जाए। मैंने श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर, आचार्य नरेन्द्र देव, डॉ० सम्पूर्णानन्द तथा अन्य कई विद्वानों के प्रमाण-पत्र एकत्र कर लिए। मन में लालसा हुई कि पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी से भी ऐसा पत्र प्राप्त किया जाए। यह शंका भी हुई कि चतुर्वेदी जी विशिष्ट सरकारी अधिकारी हैं। मालूम नहीं मेरे बारे में कुछ लिखना पसंद करेंगे या नहीं। परंतु हृदय में एक दृढ़तर विश्वास यह भी तो था कि चतुर्वेदी जी कवि, साहित्यकार और अत्यंत ही सहज स्वभाव के महानुभाव हैं। उनके औगढ़दानी होने की भी अनेक कहानियां सुन चुका था। मैं अपनी इस प्रार्थना को लेकर चतुर्वेदी जी के चरणों में उपस्थित हुआ। अपनी पूरी प्रार्थना सुना भी नहीं पाया था कि चतुर्वेदी जी बोले—'बैठो! मैंने तुम्हारी इच्छा समझ ली है। अभी लिखकर लाता हूं।' उन्होंने मेरे बारे में 3 दिसम्बर, 1947 को निम्नांकित पंक्तियां लिखकर दीं:

'श्री कमलापति शास्त्री से मेरा परिचय कई वर्ष पुराना है। वे हिन्दी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। आप व्रज साहित्य के पंडित तो हैं हीं, साथ ही आप आधुनिक हिन्दी-साहित्य के भी अच्छे ज्ञाता हैं। आप उच्चकोटि के लेखक और सफल पत्रकार भी हैं। इस समय आप काशी के प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित पत्र 'हंस' का सम्पादन कर रहे हैं। हिन्दी साहित्य सम्मेलन की उच्च परीक्षाओं के आप परीक्षक भी नियुक्त किए जाते हैं। शास्त्री जी इस नए युग के सफल हिन्दी साहित्यिकों में हैं। मैं इनसे हिन्दी साहित्य की अच्छी सेवा की आशा करता हूं और उनकी सफलता की हृदय से कामना करता हूं।'

चतुर्वेदी जी असंख्य गुणों की निधि थे। उनके संबंध में राय कृष्णदास के कुछ संस्मरण

अविस्मरणीय हैं :

"शिक्षा विभाग में उच्च पदाधिकारी के रूप में बड़ी तेजस्विता से पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी ने काम किया। एक दफे की कथा है कि एक सेक्रेटरी से इनकी कुछ कहा-सुनी हो गयी। वह आई० सी० एस० था। उसने अपनी धौंस दिखानी चाही। वे क्यों दबते! वे जानते थे कि वह हमारा कुछ नहीं कर सकता। हम क्यों उससे दबें, बहुत करेगा, हमारा तबादला करा देगा या हमारा पदोन्नति-आदेश (आर्डर आफ प्रोमोशन) रोक देगा। इससे अधिक यह कुछ नहीं कर सकता। इन्होंने उससे बहुत खरी-खरी और ज़ोर-ज़ोर से बातें कीं। वे किसी से दबे नहीं। हिन्दी के प्रश्न पर तो और भी नहीं। हिन्दी के लिए उन्होंने बहुत कुछ किया। अपने सेवा के ज़माने में भी और सेवा से निवृत्त होने के बाद भी। 'सरस्वती' की तो उन्होंने बिना किसी स्वार्थ के जैसी सेवा की, उसका जोड़ मिलना असंभव है। जब तक 'सरस्वती' बन्द नहीं हो गई, तब तक वे उसे चलाते रहे। उसकी उन्होंने ही एक जयन्ती मनाई। फिर शती की जयन्ती के लिए बहुत कुछ उन्होंने मन में सोच रखा था। लेकिन प्रेस वालों ने ऐसा धोखा दिया कि वह काम बन्द हो गया।

साहित्य के सिवा उनको कला से भी बहुत प्रेम था। कई कलाकारों को वे हमेशा आश्रय देते रहे। मध्य प्रदेश, इन्दौर वाले जोशी जी चित्रकार का एक बड़ा ही सुन्दर तैल चित्र गंगा और यमुना के संगम (प्रयाग) का उन्होंने हमारे कला-भवन को दिया।...इसके बाद और भी उन्होंने बहुत-सी चीज़ें कला-भवन को दीं।

उसके बाद का वाकया बतलाते हैं। एक दिन आए वे कला-भवन में। उसी समय इंग्लैंड के अर्ल आए हुए थे। चित्र देख रहे थे। उन्होंने हमसे पूछा कि यह सब तुमने कैसे संग्रह किया? हमने बतलाया कि इधर-उधर से कुछ खरीदा भी कुछ उठाया भी, कुछ ले भी आया और कुछ (श्रीनारायण जी की तरफ इशारा करके) ऐसे हमारे अनन्य मित्र हैं, इनको धोखा देकर-ठगकर भी हमने कुछ चित्र वसूल किए। यह सुनकर वे भी हंसे और श्रीनारायण जी भी हंसने लगे। बहुत प्रसन्न हुए।

कला-भवन के ही प्रसंग में एक घटना और याद आती है। मैं श्रीनारायण जी से मिलने गया। उनके यहां किसी प्राचीन देवता का एक सुंदर पत्थर का मस्तक रखा हुआ था। उन्होंने मुख दिखाया और उसके संबंध में बातचीत होती रही। इसके बाद इधर-उधर की और बातें होती रहीं। फिर जब हम चलने लगे, तो हमने उनसे कुछ कहा नहीं—उस मूर्ति को उठाकर जवाहर-जैकेट के पाकेट में ठूंस लिया। हम भी मुस्कराने लगे—वे भी मुस्कराने लगे। हमने प्रणाम किया और चले आए, कला-भवन में वह मूर्ति रख दी। इस तरह की लेन-देन उनसे हमारी होती रही है और वे उदारतापूर्वक कला-भवन को कुछ-न-कुछ देते रहे हैं।

तुलसीदास जी के बारे में जो उन्होंने लिखा है, वह बहुत ही अपूर्व लिखा है। वह बहुत ही अपूर्व है। उनके एक मित्र थे कालपी में रसिकेन्द्र जी कवि। एक दफा उन्होंने कहा कि हमको यह बताइए कि नए लोग जिस तरह की कविता लिखते हैं, उसको हम कैसे लिखें। पुराने ढंग के कवि थे वे। इन्होंने कहा कि कुछ भी कठिन नहीं है। तुम तुरंत लिखना शुरू कर सकते हो। बस 'म'-'ल' लगाते चलो शब्दों में; 'स्वर्णिम', 'चूनिल', 'फनिक', 'स्वप्निल' इस तरह के शब्द बनाते चलो और कविता बनती चलेगी। रसिकेन्द्र जी ने एक चरण तत्काल बनाकर सुनाया, तो ये प्रसन्न हुए।

अब देखिए उनका दूसरा गुण—साहित्यिकों का प्रतिपालन। 'निराला' जी का जिस तरह जो हाल होता रहा, उसको वे बराबर देखते रहे और सहानुभूति रखते थे। उनको आर्थिक सहायता भी देते थे। कपड़ा भी बनवा देते थे, जब कपड़ा नहीं रहता था। जाने कितने साहित्यिक थे, जिनका उन्होंने प्रतिपालन किया और आगे ले आए। अगर उनकी सूची बनाई जाय, तो हम समझते हैं कि दर्जनों में जाएगी। जिसकी पीठ पर उन्होंने हाथ रखा, उनको आगे बढ़ाया। इनके एक मित्र थे—हरदयाल सिंह। उन्होंने काव्य लिखा था—'दैत्यवंश।' उस काव्य को उन्होंने मुद्रित करा दिया।...

चतुर्वेदी जी ने स्वतंत्रता-आंदोलनों में भाग लेने वाले अनेक साहित्यकारों की रचनाओं को प्रकाशित कराने और उनसे अर्थ-लाभ कराने में जो सहयोग दिया है, उसको बहुत कम लोग जानते हैं। स्वर्गीय वेंकटेशनारायण तिवारी, स्वर्गीय बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' जी और स्वर्गीय सम्पूर्णानन्द जी की रचनाओं के प्रकाशन में उनका बहुत बड़ा हाथ था। वे किस प्रकार दूसरों को प्रेरित करके हिन्दी का भंडार भरने के लिए प्रयत्नशील रहे हैं, इसकी एक मिसाल मैं भी हूं। दो महीने के भीतर तकादा-पर-तकादा करके सिर पर चढ़कर उन्होंने भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला पर पुस्तक लिखवायी। मैं जानता हूं कि वे तत्पर न होते, तो वर्षों तक पुस्तक तैयार न होती। इसी प्रकार साहित्य-लेखन स्वयं करना तथा दूसरों से कराना उनके जीवन का प्रमुख अंग रहा है।"

डॉ० विद्यानिवास मिश्र की चतुर्वेदी जी से पितृवत् आत्मीयता थी। उनके चतुर्वेदी जी के प्रति हृदयोद्गार मननीय हैं :

"मैंने भैया साहब को पहली बार जब 1939 में देखा, तो वे विद्यालय-निरीक्षक के रूप में मेरे स्कूल में मुआइने में आए थे। मैं नवीं कक्षा में था। हिन्दी की कक्षा चल रही थी। भैया साहब दाखिल हुए। गौरवर्ण, साहबी वेश, 'धीरोद्धता नयमतीव गतिर्धरित्रीम्' (धरती को झुकाती हुई पदचाप), मस्तक पर हल्की-सी केशर की श्री। आते ही सन्नाटा छा गया। पंडित जी थर्रा गए। मेरे पास ही बैठे थे—स्वर्गीय विनोद विहारी श्रीवास्तव। उनसे भैया साहब ने कहा—'पढ़ो।' ढीठ तो मैं था। पर मैं भी सहम गया। पढ़ने लगा। 'संपादक' शब्द आया। विनोद फिर शिकार हुए—'संपादक का क्या अर्थ समझते हो?' उन्होंने कहा—'एडीटर।' भैया साहब ने कहा—'यह तो मघवा की टीका बिड़ौजा हो गयी। मूल से भी अधिक कठिन पर्याय!' अब पंडित जी घबराए कि लुटिया डूबी। तुरंत बोल उठे—'मुझे मघवा के बावन पर्याय याद हैं।' भैया साहब ने डांटा—'मैं आपसे पूछता हूं। यहां संपादक के अर्थ का प्रश्न है।' फिर उन्होंने संपादक का अर्थ स्वयं समझाया मुआइना खत्म हुआ। उनकी वह पहली स्मृति आज भी उद्दीप्त है।

भैया साहब अनबूझ पहेली हैं। तत्वतः वे कर्त्तव्यकठोर साधक हैं या सहृदय श्रीवर हैं या अपने घर को स्वाधीनता हाल के रूप में जगाने वाले, सारी दुनिया की मसखरी करने वाले श्रीविनोद शर्मा हैं या स्नेहकातर गुरुजन हैं—कुछ समझ में नहीं आता। तीस वर्षों से उन्हें जानता हूं, उन्हें कई रूपों में देखा है, खीझते हुए, रीझते हुए, हंसते हुए, हंसाते हुए और निश्-शब्द शोक करते हुए; असंख्य लोगों का प्रतिपालन करते हुए और प्रतिपालन से निरपेक्ष हो जाते हुए, बड़ों,छोटों सबको सम्मान देते हुए पर स्वयं सम्मान से सदा भागते हुए, अनेक उत्सवों के आयोजन करके तुरंत नेपथ्य में जाते हुए, क्षण में ही तलवार की धार की तरह प्रखर और

तप्त लौहपिंड की तरह दुस्सह बनकर फिर नवनीत की तरह पिघल जाने वाले और हिम की तरह शीतल हो जाने वाले।

एक तो यह भी है कि कई रंग मिले हैं उनमें। एक तो इटावे-छिपैटी वाला विनोदी रंग जो गहरी चोट को फूल की तरह झेल लेता है और जवाब में बस फूल मारता है, जो एकदम अगर आदमी कलेज वाला हुआ तो कलेजे पर ही चोट करता है, दूसरा है इलाहाबादी (दारा गंज वाला नहीं, महामना मालवीय जी के मुहल्ले वाला रंग) जो अभाव और विपन्नता की स्थिति पर भी इठला लेता है, भैया साहब बतलाते हैं कि पूज्य काका साहब (पंडित द्वारिका प्रसाद जी चतुर्वेदी कहा करते थे—'अपनी गरीबी पर कभी लज्जित न होना, अपने अभाव पर गर्व करना, दूसरों से मांगकर ओढ़ा गया ऐश्वर्य ही लज्जा की वस्तु है।' तीसरा रंग है विशुद्ध दारागंजी रंग जिसमें महाकवि 'निराला' और सांड रोज एक ही गली में मिल जाते हैं। जीवन के इतने बांकपन हैं, सब एकमिल हो जाते हैं और एक अजीब भाई चारा, उम्र, जाति, पेशा, शिक्षा के स्तरों को ढहता हुआ स्थापित हो जाता है। चौथा रंग है ब्रज का रस, रस में सराबोर आस्तिकता में सराबोर, 'पीर पराई' में नहलाया हुआ, श्रीकृष्ण के दुर्निवार अकेलेपन की गहरी श्यामलता में डूबा हुआ। पांचवा रंग निर्मम निस्संग कर्मवीरता का रंग है, जो परिवार स्वजन सबके लिए चिन्ता करता है और फिर सबसे निरपेक्ष कर देता है। एक रंग है विलायती व्यवस्था और नियमितता का, जो हर काम समय से करने की अपेक्षा रखता है, हर काम में सलीके पर जोर देता है, हर व्यवहार में मर्यादा और शिष्टता का ध्यान रखता है। पर सब रंगों के ऊपर चढ़ा हुआ रंग है, हिंदी का रंग, हिंदी के नाम पर तन-मन-धन सब न्यौछावर और हिंदी रंग जिसमें न हो, उसके प्रति 'तजिए ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही' का निर्मम भाव तन जाएगा।

'सरस्वती' के संपादक होकर लखनऊ आए, तो उनका घर भारतीयता की पाठशाला बन गया। उनके कृतित्व का जादू सबसे अधिक उनकी टिप्पणियों में प्रकट हुआ। स्वर्गीय राहुल जी कहते थे—'चतुर्वेदी जी से बड़ा डर लगता है। वे ऐसे चौकस पहरुआ हैं कि किसी से चूक हो जाय, तो बख्शते नहीं और उनकी टिप्पणी ऐसी है, जो सैकड़ों वर्ष बाद ऐतिहासिक अभिलेख के रूप में अमर रहेगी।' कैसे भैया साहब ने संपादक के दुर्धर्ष रूप को और व्यक्ति के रूप में अत्यन्त विनम्र और कोमल रूप को एक साथ निबाहा, यह मेरे लिए बहुत बड़े आश्चर्य की बात है। अपने व्यक्तित्व को ऐसा विभक्त करके भी संतुलित रखना मेरी दृष्टि में तो गहरी योग-साधना है, शायद सबसे सार्थक साधना है।

सिद्धांत के स्तर पर कभी भी उन्होंने सिर नहीं झुकाया। पर इसके साथ ही कभी भी व्यक्तिगत सम्बन्धों में उन्होंने कटुता नहीं आने दी।"

चतुर्वेदी जी के व्यक्तित्व और कृतित्व में आश्चर्यमयी महनीयता के दर्शन होते हैं। एक-एक करके चतुर्वेती जी की विशेषताओं और रचना वैविध्य की सूची नहीं बनाई जा सकती। चतुर्वेदी जी की कृतियां हमारे अन्तर और बाह्य जगत के उन्नयन की प्रत्यक्ष प्रेरणाएं हैं। उनकी कतिपय प्रकाशित कृतियां इस प्रकार हैं :

चारण (1914), महात्मा टालस्टाय (1917), चोंच महाकाव्य (1916-17), महात्मा साक्रेटीज (1917), दि हिस्ट्री आफ रूरल एजूकेशन इन यू० पी० (1930), दि एजूकेशनल सर्वे आफ ए डिस्ट्रिक्ट (1935), रत्नदीप (1936), उत्तर भारत की ग्राम्य शिक्षा का

इतिहास (1938), शासक (1940), छेड़छाड़ (1942), राजभवन की सिगरेटदानी (1967) आधुनिक हिन्दी का आदिकाल (1973), पावन संस्मरण (1977), साहित्यिक चुटकुले (1981), मनोरंजक संस्मरण (1982), कसौटी (1982), नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर (1982), उर्दु क्या है (1982), उ० प्र० में हिन्दी का नया आंदोलन (1985), पत्नी-धर्मपत्नी (1987), मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनाएँ (1988), भारत में सूर्योपासना और ग्वालियर का विवस्वान मंदिर (1990) आदि।

चतुर्वेदी जी ने अगणित टिप्पणियां और लेख लिखे हैं। उनकी लिखी टिप्पणियां और लेख इतिहास की ऐसी संपत्ति है कि हम उनके प्रकाश में अपने जीवन को सर्वथा समुन्नत और स्पृहणीय बना सकते हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'हिन्दी के सजग पहरेदार' शीर्षक-लेख में चतुर्वेदी जी की टिप्पणियों की भूरि-भुरि प्रशंसा की है :

"श्रद्धेय पंडित श्री नारायण चतुर्वेदी ने हिंदी साहित्य के लिए आजीवन अक्लांत-भाव से कार्य किया है। उन्होंने साहित्य की भी सेवा की और हिन्दी के साहित्य और साहित्यकारों के सम्मान की रक्षा के लिए बराबर संघर्ष भी किया और विजयी भी हुए हैं। वे हिंदी के सजग पहरेदार रहे हैं।

हिंदी की ऐतिहासिक पत्रिका 'सरस्वती' का बीस वर्षों तक उन्होंने निरंतर संपादन किया और राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और शैक्षिक विषयों पर निर्भीक भाव से संपादकीय लिखते रहे। उनकी टिप्पणियां तथ्यों से पूर्ण और तर्कसम्मत होती थीं। कई बार अधिकारी लोग उनसे नाराज भी हुए। परंतु चतुर्वेदी जी ने जिसे उचित समझा, उसे कहने में कभी संकोच नहीं किया। इस संपादकीयों में बहुत-सी ऐतिहासिक महत्व की टिप्पणियां हैं, जो केवल सामयिक ही नहीं—स्थायी मूल्य भी रखती हैं। इन टिप्पणियों में समकालीन समस्याओं को बड़े व्यापक संदर्भ में रखकर देखा गया है। उनसे किसी का मतभेद भले ही हो उनकी महत्ता में कोई संदेह नहीं है। क्योंकि इन टिप्पणियों के पीछे अत्यंत तेजस्वी, निर्भीक और ईमानदार हृदय की वेदना है। उनकी भाषा भी शुद्ध हिंदी का प्रतिमान है। मैं कुछ ऐसे अवसरों पर चतुर्वेदी जी के निकट रहने का अवसर पा चुका हूं, जब वे किसी विषय पर संपादकीय लिखना चाहते थे। उस समय की जितनी भी जानकारी संभव होती, वे इकट्ठा करते थे और दूसरे लोगों से भी उस संबंध में बातचीत किया करते थे। कभी-कभी उन्हें पढ़कर सुनाने में उनका उत्साह युवकों के समान होता था। इतनी लगन और निष्ठा के साथ लिखी हुई चीज निस्संदेह महत्वपूर्ण होती थी। वे किसी भी विचारणीय पक्ष को छोड़ना नहीं चाहते थे। विचारणीय विषय के हर पहलू पर उनका ध्यान जाता था। लेकिन सर्वत्र एक प्रकार की निःसंगता पाई जाती थी। ऐसा लगता था कि विचार करते समय सदा वे सोचते रहते थे कि इसका परिणाम या प्रभाव क्या होगा, उससे कुछ लेना-देना नही है, जो उचित लगता है, उसे कह देना हमारा कर्त्तव्य है। इन्हीं कारणों से उनकी इन टिप्पणियों का बहुत मूल्य है। वे जहां संदर्भ की व्यापकता पर दृष्टि रखती हैं, वहीं विषय के विभिन्न पक्षों पर भी जानकारी देती हैं और साथ ही बिना किसी लगाव के उचित बात कह जाती हैं।'

चतुर्वेदी जी जब चालीस वर्ष के हुए थे, तब उन्होंने दैहिक, दैविक तथा भौतिक विपदाओं से बचने के उपलक्ष्य में भगवान को धन्यवाद देते हुए जो कविता लिखी थी, वह हिंदी-साहित्य के लिए अमूल्य संपत्ति है :

'हैं तुम्हें अनेकों धन्यवाद'।
बारह बजकर बीस मिनट पर, चालीस का हूं हुआ आज।
मेरे सौन्दर्य सलौने को लख, कायदेव को लगी लाज॥
पर किसी शिकारिन ने अब तक, मुझको न बना पाया शिकार।
कोई मृगनैनी ले न सकी, मेरे दिल को क्षण भर उधार॥
मुझको गिनने न पड़े तारे, जग कर सारी रात-रात।
प्रेमिल कविता मैंने न लिखी, न लिखे मैंने हैं प्रेम-पात॥
डट कर मैं भोजन करता हूं, सोता हूं लम्बी तान-तान।
जंगल के निर्भय हाथी-सा, प्रेमांकुश का मुझको न ज्ञान॥
अबलाओं या कि बलाओं से, बच पाया अब तक निर्विवाद।
उनसे प्रभू बचाने को है, तुम्हें अनेकों धन्यवाद॥
बलिया में पैदा हुआ नहीं, भोगांव नहीं मेरा मकान।
मैंने शिकारपुर में खोली न, कभी कोई दुकान॥
बी० ए० में पढ़नी पड़ी नहीं, मुझको कविता छायावादी।
ओ प्रगतिशील की मुझ पर, न कभी लद पायी है लादी॥
है समालोचना लिखी नहीं मेरी श्री नंददुलारे ने।
अपने युग में रक्खा न मुझे, श्री भार्गव लाल दुलारे ने॥
पंडित बनारसी चौबे ने, प्रोपोगेंडा मेरा किया नहीं।
औ स्टारचंद ने हिंदुस्तानी की, संस्था में है रखा नहीं॥
औ आल इंडिया रेडियो ने, मुझको न दिया है आमंत्रण।
मुझको सुनने हैं पड़े नहीं, सर सुल्तानी भीषण भाषण॥
इन सब भीषण विपत्तियों की, जब आती मुझको कभी याद।
तब उनसे मुझे बचाने को, गद गद देता हूं धन्यवाद॥
यद्यपि इंटेलिजैंसिया क्लास का हूं, मैं हूं बुर्जवा भीषण महान।
पर स्टेलिन की आवपू का, मैं अब तक न हुआ देखो निशान॥
स्थानीय तवारिश (कामरेड) जितने हैं, हैं सभी दंत नखहीन बाघ।
जिससे मैं अब तक जीवित हूं, न गया प्रदेश से कहीं भाग॥
ऐंटी फासिस्ट पुराना हूं, मुझ पर न चला नाजी चक्कर।
झख मारा करते मुझे देख, कितने हिटलर—कितने हिमलर॥
फिर भी मैं अब तक बचा हुआ, गेस्टापो रहता दांत पीस।
कंसट्रेशन कैंप न देखे हैं, अब भी धड़ पर है लगा शीश॥
मैं मुसोलिनी का घोर शत्रु, फिर भी मुझको ब्लैक शर्ट।
रेंडी का तेल न पिला सके, कर सके न मुझको तनिक हर्ट॥
छानता भंग मैं रोज रहा, खद्दर पहने मेरी बलाय।
पर मेरे द्वारे हुई नहीं, वल्लनटेरों की हाय-हाय॥
सी० आई० डी० वालों की भी, कुपा-दृष्टि से रहा हीन।
घर की न तलाशी हुई कभी, न लगा सेक्शन 29 नवीन॥

इन सब भीषण विपत्तियों की, जब आती मुझको प्रभू याद।
तब उनसे मुझे बचाने को, मैं देता तुमको धन्यवाद॥
मैं विहटा वाली गाड़ी में, जा नहीं रहा था कलकत्ता।
मुझसे न उतरवाया डाकूगण ने, मेरा कपड़ा-लत्ता॥
बदना के पुल के पास न था, अपना मेरा कोई मकान।
मैं था बिहार में नहीं वहां, भूकम्प हुआ था जो महान॥
फौजी लारी से दबा नहीं, टामी की खायी है न लात।
भांड़ों ने फब्ती कसी नहीं, मुझ पर ले मेरी कोई बात॥
सट्टे में खोकर रोने को, मुझ पर रुपया है हुआ नहीं।
'नो वेकेंसी कोई यहां नहीं,' सुनने न कभी हूं गया कहीं॥
सौ देकर छै सौ पाने पर भी, रखते जो अपना कर्जदार।
उन लाला जी से है न लिया, मैंने अब तक पैसा उधार॥
डॉक्टर के चाकू से अब तक, है हुआ न कोई अंग भंग।
डॉक्टर अब तक है लगा कहीं, उसने न किया है मुझे तंग॥
मोटरावन और भुसावल मुझसे, पा न सका है जमींदार।
झूठी गवाही न दिला सका, मुझसे थाने का जमादार॥
ऐसी ही और आफतों की, जब आती मुझको प्रभू याद।
तब उनसे मुझे बचाने को, मैं देता तुमको धन्यवाद।"

चतुर्वेदी जी की हिन्दी-विषयक टिप्पणियों को 'हिन्दी-निष्ठा के अभिलेख' कहा गया है। हिंदी को लेकर चतुर्वेदी जी के मार्मिक उद्गार हमारे हृदय को उद्वेलित कर देते हैं और कुछ सोचने को विवश भी। फरवरी 1961 की 'सरस्वती' में 'हिन्दी के दो रूप'—शीर्षक से प्रकाशित चतुर्वेदी जी के उद्गार का वर्ण-वर्ण अनन्तकाल तक हमें अपनी मातृभाषा के प्रति कर्तव्य परायण बनाता रहेगा :

"केन्द्रीय सरकार के अतिरिक्त हिन्दी का प्रयोग क्षेत्रीय भाषा के रूप में कई राज्यों में होता है, जहां की वह मातृभाषा है। इस प्रकार हिन्दी के दो रूप हैं—(1) केन्द्रीय सरकार की राजभाषा का रूप, जिसका मुख्य उपयोग अन्तर्राज्य पत्र-व्यवहार, संचरण आदि के लिए है और (2) उन राज्यों की राजभाषा और मातृभाषा का रूप, जिनकी वह क्षेत्रीय भाषा है। जिस प्रकार बंगाल में बंगला, मद्रास में तामिल, महाराष्ट्र में मराठी और गुजरात में गुजराती वहां की राजभाषाएं रहेंगी (केन्द्रीय भाषा चाहे अंग्रेजी हो या हिन्दी हो), उसी प्रकार केन्द्र की कोई भी भाषा क्यों न हो—उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि की राजभाषा हिन्दी ही रहेगी। वहां के बालक आरम्भ से उसी में शिक्षा पायेंगे।

इन राज्यों में जो हिन्दी का रूप है, वह संविधान ने निश्चित नहीं किया। इनमें वह क्षेत्रीय भाषा है। अतएव केन्द्रीय सरकार अपने यहां हिन्दी के रूप में जो कुछ भी परिवर्तन करती है, वह केवल अपने कामों के लिए। हिन्दी क्षेत्र वाले उन्हें मानने को बाध्य नहीं और न वे उन पर लागू हैं।

लखनऊ के दूसरे देवनागरी लिपि-सुधार-सम्मेलन में अंकों का प्रश्न उठा था। उसने सर्वसम्मति से यह स्वीकार किया था कि देवनागरी-लिपि के साथ देवनागरी-अंक ही स्वीकार

किए जाएं। उसने कुछ अंकों के विशिष्ट रूपों को स्वीकार करके स्वीकृत देवनागरी-लिपि के साथ उन्हें उसके अविभाज्य अंग के रूप में स्वीकार किया था। उत्तर प्रदेश सरकार नैतिक और वैधानिक दृष्टि से उन्हें मानने को बाध्य है। सारांश यह है कि संविधान के कारण केन्द्रीय सरकार देवनागरी-लिपि में हिन्दी लिखते समय राष्ट्रपति के आदेशानुसार हिन्दी या अंग्रेजी-अंकों का प्रयोग कर सकती है। किन्तु हिन्दीभाषी सरकारों के लिए उनका प्रयोग अनुचित है। क्योंकि (1) हिन्दी में वे नहीं चलते, (2) हिन्दी साहित्य-जगत् के नेताओं ने उनका बराबर विरोध किया है, (3) लखनऊ के द्वितीय लिपि-सुधार-सम्मेलन ने केवल हिन्दी-अंकों को स्वीकार किया है और (4) अंग्रेजी-अंक देवनागरी-अक्षरों की प्रकृति के साथ मेल नहीं खाते।...''

चतुर्वेदी जी ने 'छेड़-छाड़' नाम से व्यंग्य कविताओं का एक लघु संग्रह केवल प्राइवेट सर्क्युलेशन के लिए केवल 150 प्रतियां प्रकाशित कराया था। 'छेड़-छाड़' में अनेक प्रसंगों से जुड़े हुए चतुर्वेदी जी के व्यंग्यात्मक और काव्यात्मक विचार बहुत ही उद्बोधक हैं। 'छेड़-छाड़' का 'समर्पण' इस प्रकार था :

'इस पुस्तक में आये हुए सब पात्रों, सुपात्रो और कुपात्रों को (मय अपने के) यह पुस्तक समर्पित है।'

'छेड़-छाड़' की 'भूमिका' तो द्रष्टव्य है :

'ऐ पढ़ने वाले !

सावधान !

इस तरकस में है व्यंग्य-बान !
इसमें साहित्यिक छेड़-छाड़,
इसमें साहित्यिक चीर-फांड़,
पर — हिंसा का है नहीं लेश,
क्यों हो विनोद में राग-द्वेष ?
तू तर्क मान — चाहे न मान,
अज्ञान समझ — या समझ ज्ञान,
पर पढ़कर हंस — औ' लूट मोद,
यह कहता

सविनय
श्रीविनोद !'

'छेड़-छाड़' की एक रचना है—'करेलालोचनी।'

इस रचना में चतुर्वेदी जी का व्यंग्य-विनोद अपने चरम पर है !

चतुर्वेदी जी ने 83 वर्ष की वृद्धावस्था में मारिशस के द्वितीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में भाग लिया था। इस अवसर पर 31 अगस्त, 1976 को मारिशस गंगा-तालाब पर आयोजित मारिशस-हिन्दू-महासभा-समारोह में उन्होंने भाषण दिया था।

'मारिशस के धर्मनिष्ठ बंधुओं,

आपकी सरकार ने मुझे विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर निमंत्रित कर मेरा गौरव बढ़ाया है। वह आपकी प्रतिनिधि है। अतएव मैं इसे आपका ही निमंत्रण मानता हूं। आठ-दस

दिन ही में मैं 83 वर्ष पूरे कर 84वें वर्ष में प्रवेश करूंगा और इस समय मेरे लिए यह यात्रा कठिन ली। किन्तु मैं मारिशस में बसे अपने भाई-बन्दों के दर्शनों का लोभ संवरण नहीं कर सका और आ गया।

हमारे देश की प्रथा है कि जब किसी प्रियजन के यहां जाए, तो उसे भेंट करने को कोई वस्तु ले जायें। मैंने सोचा कि मारिशस-स्थित अपने भाई-बहनों के लिए क्या वस्तु ले चलूं? आप इतने समृद्ध हैं कि आपको मेरा ऐसा अकिंचन व्यक्ति क्या उपहार दे सकता है। किन्तु मैं जानता था कि आप अत्यन्त धर्मनिष्ठ हैं तथा गंगा जी के भक्त हैं। गंगा जी के प्रति आपकी श्रद्धा इतनी अधिक है कि आपके एक पूर्वज ने भगीरथ के समान मारिशस में गंगा जी का नया अवतरण इस ताल में कराया, जिस गंगा-ताल के किनारे हम सब एकत्र हुए हैं। हिन्दू लोग घर में गंगा-जल रखना परमावश्यक समझते हैं। वे हरिद्वार या प्रयाग से गंगा-जल ले जाते हैं। मैं प्रयाग का निवासी हूं। अतएव मैंने सोचा कि गंगा-जल ही आपके लिए सबसे उपयुक्त और प्रिय उपहार होगा।

मैं वृन्दावन के श्रीरंग जी के मन्दिर का ट्रस्टी भी हूं। वहां से भगवान का उतरा हुआ चन्दन भी एक कटोरी में आप ऐसे श्रद्धालुजनों को भेंट करने के लिए लाया हूं। इसके अतिरिक्त श्री राधाकृष्ण के 50 और भगवान् विष्णु के 30 चित्र भी आपकी सेवा के लिए प्रस्तुत कर रहा हूं। मैं इन पवित्र वस्तुओं को आपकी हिन्दू महासभा के अध्यक्ष को भेंट कर रहा हूं, जो उन्हें अपने विवेक के अनुसार आप लोगों में वितरित कर देंगे।

भारत के मन्दिरों में यह प्रथा है कि जब किसी व्यक्ति का विशेष सम्मान करना होता है, तो मन्दिर का गद्दीस्थ स्वामी या उसका कोई वरिष्ठ अधिकारी एक उत्तरीय (दुपट्टा) उस पुरुष को उढ़ा देता है। मैं श्रीरंग-मन्दिर, वृन्दावन के ट्रस्टी की हैसियत से आप लोगों के प्रतीक स्वरूप आपके अध्यक्ष को मन्दिर का यह सम्मान दे रहा हूं। इस पर तुलसी-रामायण की तीन चौपाइयां अंकित हैं और छोटों पर भगवान् विष्णु के मुख्य आयुध शंख और चक्र तथा उनके बीच में गोस्वामी तुलसीदास का चित्र अंकित है।

आपने मुझे निमंत्रित कर मारिशस में बसे अपने सहधर्मी हिन्दीभाषी भाइयों और बहिनों से मिलने का जो आनन्दप्रद अवसर और सौभाग्य दिया, इसके लिए मैं आपका हृदय से आभारी हूं। अब मैं आपकी सभा के अध्यक्ष का सम्मान कर अपनी लायी वस्तुएं भेंट कर रहा हूं।

18 अगस्त, 1990 को चतुर्वेदी जी इस नश्वर शरीर को छोड़कर अमर हो गए। चतुर्वेदी जी व्यावहारिक साधना तथा शाश्वत चिन्तन-मनन के अनुभूति-कोश थे। वे अपने समय की श्रेष्ठ विभूति तो थे ही, भविष्य के भी हमारे सर्वथा प्रकाश-स्तंभ रहेंगे। ऐसे ही महा-पुरुषों के लिए कहा गया है—'नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।'

[14 ए० पार्क रोड, लखनऊ—226001]

कहानी

जन्मदिन का उपहार

□ डॉ० सत्यपाल शर्मा

सुकुमार का जन्मदिन ज्यों-ज्यों नज़दीक आ रहा है, त्यों-त्यों उसकी उत्सुकता सी बढ़ती चली जा रही है। पता नहीं कौन-कौन से अंकल क्या-क्या उपहार लाएं। आंटियां तो शायद इस बार भी खिलौने ही लाएंगी। उसे हर जन्मदिन पर अमूल के बड़े-बड़े चॉकलेट, पेस्ट्री के डिब्बे, शतरंज की गोटियां और बोर्ड, प्लास्टिक की ऑटोमेटिक राइफलें माऊथ ऑर्गन, बैडमिंटन रैकेट और लाल-पीले बुर्जी कागजों में गोटे-किनारी से बंधे तरह-तरह के पैकेट मिलते हैं। इनमें बंधी चीजों के बारे में उसकी उत्सुकता लगातार बनी रहती है। बड़ी दीदी सुनयना और पांच वर्ष का छोटा भाई सुशील, ये दोनों खूब छीनाझपटी करते हैं इन चीज़ों से।

सत्ताईस नवम्बर सुकुमार के लिए बड़े महत्त्व का दिन है। उसे यह तो पता नहीं कि वह इस दुनिया में क्यों आया और कि जन्म-दिन मनाना क्यों इतना ज़रूरी होता है, पर वह इतना तो समझने लगा है कि यही एक ऐसा दिन है जो उसके व्यक्तित्व को एक महत्ता और गरिमा प्रदान करता है। इस दिन वह अपने परिवार के सदस्यों तथा पास-पड़ोस के लोगों के बीच कुछ बड़ा बन जाता है—कुछ ऊंचा उठ जाता है। सब लोग उसमें रुचि लेते हैं, उस पर न्यौछावर जाते हैं, उसकी बलाएं लेते हैं और उसके लम्बे जीवन की कामनाएं करते हैं। फिर यही तो एक ऐसा दिन होता है जिसमें उसके मम्मी-पापा बहुत अच्छे मूड में होते हैं और लड़ते-झगड़ते बिल्कुल नहीं। वे अच्छे-अच्छे कपड़े पहनते हैं, अच्छी-अच्छी चीज़ें बनाते हैं, प्यारे-प्यारे शब्द बोलते हैं और काम-धन्धों में उलझे रहने से दिन-रात मुर्झाए रहने वाले उनके चेहरे एक नए उजाले से जगमगाने लगते हैं। घर सचमुच घर बन जाता है—प्यारा-प्यारा घर। पक्षियों से घिरे पके फलों वाले जंगली पेड़ की तरह मुखरित होता घर उसे बहुत अच्छा लगता है।

सुकुमार, सत्ताईस नवम्बर के दिन की सारा साल प्रतीक्षा करता है। शायद दशहरे और दीवाली के दिन भी उसे इस दिन से कुछ कम ही लगते हैं। अपना जन्मदिन उसे अपने गांव के फाग मेले से भी अधिक सुहाना लगता है। क्या उसे मिठाईयों की चाह होती है? क्या इस दिन बनने वाला बढ़िया खाना उसे अच्छा लगता है? या फिर भागती हुई घर की मनहूसियत उसे खुश कर जाती है? उसे निःसन्देह यह सब भाता है। उपहारों में भी उसकी दिलचस्पी है, खेल-तमाशे भी उसका मन हरते हैं, बच्चों का जमघट भी उसे बहुत अच्छा लगता है, परन्तु इस सबसे बढ़ कर है 'मैगी' शब्द से जाना जाने वाला भाव जिसे वह अपने मम्मी-पापा के बीच

सार्थक बनता देखना चाहता है। घर में जुटने वाले मेलों, पड़ोसियों की शुभकामनाओं, माहौल की रंगीनियों आदि से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण हैं मम्मी-पापा के खिलते चेहरे जिन्हें, देखने के लिए वह तरस जाता है।

परन्तु इस बार उसकी उत्सुकता पहले से कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी है। अब वह पहले से अधिक गंभीर और प्रौढ़ हो गया है। अब खाने-पीने की चीज़ों और खिलौनों से उसकी पूरी तृप्ति नहीं होती। वह मन और बुद्धि की भूख महसूस करने लगा है। चित्रकथाओं की छोटी-छोटी पुस्तकें, रोज़मर्रा के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली तस्वीरों से भरी पत्रिकाएं तथा शहरों, कस्बों, नदियों, समूहों, रेलमार्गों और सड़कों को दर्शाने वाले ग्लोब उसे अपनी ओर आकर्षित करने लगे हैं। अपने एक नन्हें साथी के पास उसने चित्रमयी रामायण देखी है। अखबार वाले की दुकान पर उसने ऐसी कई तरह की पुस्तकें देखी हैं और ये सब उसे ऐसे झरोखों के समान लगने लगी हैं जिनमें बैठकर सारी दुनिया की झांकी देखी जा सकती है। कहानियों की पत्रिकाएं उसे उन गाड़ियों की तरह लगती हैं जिनमें बैठकर वह समुद्रों, पर्वतों, लम्बी-लम्बी नदियों, छल-छलाते झरनों, चमचमाते सरोवरों, उमड़ते-घुमड़ते बादलों तथा मरुभूमियों, पठारों और हरे-भरे मैदानों वाली भूमियों की सैर कर सकता है। कुछ पुस्तकें तो उसे वहां ला बिठाती हैं जहां से वह अनदेखे अद्भुत लोगों तथा देशों को देख सकता है। वह इतिहास को देखना चाहता है, समय की लम्बाई-चौड़ाई को मापना चाहता है और धरती के रंग तथा स्पन्दन को सीधे तौर पर अनुभव करना चाहता है।

चौथी कक्षा में पढ़ने वाला आठ-वर्षीय सुकुमार इस बार बहुत खुश है क्योंकि इस जन्म-दिन पर उसे एक बिलकुल अनोखी चीज़ मिलने वाली है। रंग-बिरंगे कागज़ों में ढंकी-छिपी चीज़ें उसने बहुत देखी हैं। इनमें अब उसकी कोई दिलचस्पी नहीं रह गई है। इस जन्म दिन की भेंट भी शायद ऐसे ही भड़कीले कागज़ों में छिपी होगी और इस पर भी भेंटकर्ता के नाम तथा उसकी शुभकामनाओं की पर्ची चिपकी होगी परन्तु भेंट के इस पैकेट के बारे में उसके मन में उस तरह की उत्सुकता नहीं होगी। प्रोफेसर अंकल ने जो वचन दिया है उसे वह ज़रूर निभाएंगे। वह सुकुमार से बहुत प्यार करते हैं और उसे तो वह मम्मी-पापा से भी अधिक अच्छे लगते हैं। उनके गौर मुख और चम-चमाते शीशों वाले चश्मे से ढकी आंखों में कितना अपनापन है। वह जब भी उसे मिलते हैं, दो-चार प्रश्न छोड़ देते हैं और कहते हैं—'ढूंढ़ो इनके उत्तर।' जापान की राजधानी, दुनिया की सब से बड़ी नदी, भारत का मरुभूमि वाला प्रदेश, हिमालय की सबसे ऊंची चोटी, भारत के तट को छूने वाले समुद्र, सबसे अधिक वर्षा वाला स्थान, सबसे बड़ी पुस्तक, प्रथम ऐवरेस्ट विजेता, करक रेखा के गुज़रने के स्थान, स्थान, गंगा का उद्गम स्थान आदि पता नहीं कितने प्रकार के प्रश्न वह पूछते हैं परन्तु सुकुमार उनका उत्तर कहां देखे। उसके घर में तो न ग्लोब है, न भारत का मानचित्र और न कोई ऐटलस ही।

प्रोफेसर अंकल प्रश्न पूछते हैं तो कुछ दिन बाद उनके उत्तर भी बता देते हैं परन्तु सुकुमार की तसल्ली नहीं होती। वह उत्तर अपने आप ढूंढ़ना चाहता है। जब वह प्रोफेसर अंकल के घर आता है तो उनके ड्राइंगरूम की अंगीठी पर पड़े ग्लोब को बड़ी हसरत से देखता है। वह उसे छूकर देखता है, डरते-डरते उसे घुमाता है और फिर जब वह रुक जाता है तो उस पर, पूछे गए प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। प्रोफेसर अंकल के पुस्तकों के रैक को वह ऐसे देखता है जैसे कोई अजायबघर की किसी आलमारी को देखता है। इसमें वह छोटी बड़ी,

मोटी-मोटी और सुन्दर जिल्दों वाली पुस्तकें देखता है। वह इन्हें छूता है, हैरानी से देखता है और धीरे-धीरे इन्हें सहलाता है। एक छोटे से शब्दकोश पर वह मुग्ध हो जाता है इसे बड़ी देर तक ऊपर-नीचे और दाएं-बाएं से देखता है। एक शैल्फ में उसे ऐटलस दिखाई देती है।

"ऐटलस देखोगे बेटे ?" प्रोफेसर साहब स्नेह से पूछते हैं।

"इसमें क्या होता है अंकल ?" सुकुमार की उत्सुकता बढ़ती है।

"इसमें तुम्हें ढेर सारे प्रश्नों के उत्तर मिल सकते हैं। इसमें तुम देखोगे रेल की पटरियां, सड़कों की लम्बाईयां, चिलचिलाती धूप वाली मरुभूमियां समुद्रों की ठंडी-गर्म धाराएं, उमड़ते घुमड़ते बादलों के देश, कोयले की खानें, तेल के कुंएं, ऊंचे-ऊंचे पर्वत, सरकते हिमनद, तूफानी हवाएं, लम्बी ठण्डी रातों वाले ध्रुवीय प्रदेश, घने काले वन, घास के मैदान रबड़ और चाय के बागान, लम्बी-चौड़ी दलदली भूमियां और वह सब कुछ जो तुमने सुना और पढ़ा है परन्तु देखा नहीं। ऐटलस को हर रोज़ देखोगे तो क्विज़ में प्रथम आओगे।"

सुकुमार बड़ा प्यारा बच्चा है। प्रोफेसर साहब की धर्म-पत्नी वसुन्धरा उसे बहुत चाहती है और वह उससे काफी घुला-मिला हुआ है। वह उसे प्यार से प्रोफेसर आंटी कहकर बुलाता है। उसने जब से ऐटलस देखी है तब से वह ड्राइंगरूम के बार-बार चक्कर लगाता है। वह आता है और ऐटलस खोलकर सोफे पर बैठ जाता है और बहुत देर तक नक्शे देखता रहा है। स्कूल में जिस शहर, देश या क्षेत्र का नाम सुनता है, उसे मानचित्र पर ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है और कुछ देर में उसे पाकर प्रसन्नता से भर जाता है। ऐटलस को देखकर तो उसकी आंखों में एक चमक आ जाती है और उसके होंठ आह्लाद की झलक देने लगते हैं। ऐटलस के प्रति उसके इस लगाव को देखकर एक दिन वसुन्धरा उससे पूछती है—

"ऐटलस लोगे बेटे ?"

"हां आंटी ! ज़रूर लूंगा।"

"पर एक शर्त है। इस बार कक्षा में प्रथम आना होगा।"

वसुन्धरा द्वारा रखी गई यह शर्त सुकुमार का उत्साह ठंडा कर देती है। उसे कक्षा में प्रथम आना लगभग असंभव लगता है। वह सोचता है, कक्षा में प्रथम तो वह कभी आएगा नहीं। वह निराश हो जाता है। परन्तु थोड़ी देर बाद साहस बटोरकर कहता है—"आंटी ! प्रथम तो मैं आऊंगा नहीं, पर ऐटलस तो मुझे दे ही दो।"

"प्रथम भी नहीं आओगे और ऐटलस भी लोगे, यह क्या बात हुई ? बिना कोई दर्जा हासिल किए भी कोई इनाम पाता है ? कैसी बात करते हो सुकुमार ? बिना मेहनत के ही सब कुछ पा जाना चाहते हो ?"

और इससे पहले कि वसुन्धरा की वाणी दार्शनिकता में डुबकियां लगाने लगे, प्रोफेसर प्रशान्त बोल उठते हैं—"ठीक है, हम देंगे ऐटलस। बिना किसी शर्त के देंगे। तुम्हारा जन्म-दिन कब पड़ता है ?"

"सत्ताईस नवम्बर अंकल। बस सिर्फ दो महीने बाद।"

"ठीक है। हम तुम्हारे जन्मदिन पर तुम्हें नई ऐटलस देंगे—बिलकुल नई।"

और प्रोफेसर साहब अपने बुक रैक से एक मोटी-सी पुस्तक निकाल कर अपने पढ़ने के कमरे में चले जाते हैं।

सुकुमार अच्छे घर का लड़का है। उसके पिता लोक निर्माण विभाग में एसिस्टेण्ट

ऐन्जीनियर हैं। घर में खाने-पीने और पहनने की कोई कमी नहीं। शिक्षा के मामले में यह परिवार बड़ा सर्तक और सावधान है और शायद इसीलिए इसके तीनों बच्चे अर्थात् सुनयना, सुकुमार और सुशील अंग्रेज़ी माध्यम वाले कॉन्वेण्ट स्कूल में पढ़ रहे हैं। समय की तेज़ दौड़ में पिछड़ना कौन चाहता है। बच्चों को अंग्रेज़ी माध्यम के स्कूल में न पढ़ाना वैसे भी अपनी शान को बट्टा लगाना है और साथ ही बच्चों के शिक्षा स्तर को गिराकर उन्हें घसियारेपन की ओर धकेलना है। बच्चे अंग्रेज़ी माध्यम से नहीं पढ़ेंगे तो भद्रजनों के समाज में उठना-बैठना कैसे सीखेंगे। इन्हीं बातों को ध्यान में रखते हुए एन्जीनियर महोदय ने बच्चों को कॉन्वेण्ट में डाला है। समय के साथ-साथ चलना इन्हें खूब आता है। सुकुमार की मम्मी को तो बच्चों का गंवारूपन बिलकुल पसन्द नहीं। हिन्दी माध्यम के सरकारी स्कूल तो उसके विचार से गंवारों और बोदों की भीड़ पैदा करते हैं।

परन्तु यह सब होने के बावजूद भी सुकुमार इतना अभावग्रस्त और भूखा-सा क्यों है? उसे पहनने को बेशक बढ़िया कपड़े मिलते हैं। उसके खाने में भी किसी प्रकार की कसर नहीं रखी जाती। घर में दूध, फल, मिठाई आदि की बहुतायत रहती है। ऐन्जीनियर महोदय वेतन भी अच्छा पाते हैं और घर से भी समृद्ध हैं। उनके परिवार की गणना अभिजात वर्ग में होती है। आश्चर्य तो इस बात का है कि सब कुछ होते हुए भी ऐसे परिवारों के बच्चे एक प्रकार का अभाव अनुभव करते हैं। इनका पेट तो भरा जाता है परन्तु मन और बुद्धि की भूख मिटाने का बिलकुल कोई उपाय नहीं किया जाता। सुकुमार अपने घर-परिवार के तंग घेरे से निकलकर खुली दुनिया में आना चाहता है। वह अपनी छोटी-सी दुनिया से बाहर निकलकर नई दिशाओं की खोज करना चाहता है परन्तु घर और समाज का परिवेश उसके मार्ग की बाधा बन जाता है। उसके मम्मी-पापा तो बस यही चाहते हैं कि वह केवल अपने कोर्स की पुस्तकें ही पढ़े और परीक्षा में कोई दर्जा हासिल करे। वह पोज़ीशन नहीं लेगा तो ऐन्जीनियर कैसे बनेगा। बच्चों का पत्र-पत्रिकाएं पढ़ना उन्हें एक फालतू काम लगता है, इसलिए उन्होंने घर में कोई पत्रिका नहीं लगा रखी है। बच्चों का किस्से कहानियां पढ़ना या चित्रकथाओं में मुंह मारना उन्हें बिलकुल पसन्द नहीं। वे तो ऐटलस, ग्लोब, मानचित्र आदि चीज़ों को भी व्यर्थ मानते हैं सुकुमार ने बीसियों बार आग्रह किया होगा ऐटलस के लिए परन्तु क्या मजाल कि किसी ने उसकी बात सुनी हो। अभी पिछले महीने उसके पापा सरकारी काम से दिल्ली गए थे और सुकुमार ने बड़े चाव से एक ग्लोब लाने को कहा था परन्तु उनके लौटने पर उसने बड़ी निराशा भरी दृष्टि से देखा था कि और तो सब चीजें आ गई हैं, एक ग्लोब ही नहीं आया है—फालतू की चीज़ जो थी इस पर डेढ़-दो सौ रुपए क्यों बर्बाद करते—

सुकुमार लगातार सोचता रहता है कि मम्मी-पापा को ऐसी क्या कमी है कि वे न तो उसे कोई बाल पत्रिका लगवाकर देते हैं, न कोई चित्रकथा खरीदने देते हैं और न ऐटलस ही घर में रखते हैं। ऐन्जीनियर बनने का अर्थ यह तो नहीं कि हम सीमेंट-पत्थर और सरिया ही बनते चले जाएं। मम्मी किटी पार्टियों में जाती हैं तो नई से नई साड़ियां पहनती हैं। पापा के दोस्त आते हैं तो उनकी आव-भगत पर पचासों रुपए खर्च होते हैं, फिर मुझे ही इन छोटी-छोटी चीज़ों के लिए क्यों तरसना पड़ता है। सुकुमार केवल महसूस कर सकता है और मन मार सकता है। वह थोड़ा बहुत सोचने भी लगा है परन्तु अपनी इस सोच को शब्दों का जामा पहनाना अभी उसे नहीं आया है। उसकी वाक्शक्ति अभी पूरी तरह विकसित नहीं हुई है और फिर बड़ों का दबाव

भी तो है उस पर।

इसीलिए तो वह प्रोफेसर अंकल के पास आता है। यहां उसे एक खुलापन दिखाई देता है। यहां वह जिधर भी देखता है उधर से ही प्रकाश का एक झरना दिखाई देता है। यहां पड़ी एक-एक पुस्तक एक-एक दुनिया है और वह नई-नई दुनियाओं की सैर करना चाहता है। अपना घर उसे अंधेरी कोठड़ी-सा लगता है। इसलिए मौका मिलते ही वह वहां से भाग खड़ा होता है। वह पहाड़ों की चोटियों तक पहुंचना चाहता है; झरनों में स्नान करना चाहता है। जलप्रपातों की फुहारों में से छन कर आने वाली शीतल वायु को पीना चाहता है, झीलों पर तैरना चाहता है, अनजाने रास्तों पर आगे बढ़ना चाहता है और जीवट के काम का कोई भी अवसर हाथ से निकलने नहीं देना चाहता है। परन्तु क्या करे, उसके लिए तो सारे द्वार बन्द हैं। खाओ-पियो, पढ़ो और सो जाओ। मम्मी-पापा तो बस यही चाहते हैं कि सवेरे उठो, नहाओ-धोओ, नाश्ता करो और स्कूल चले जाओ। फिर घर आकर पढ़ने में जुट जाओ। इधर-उधर झांक कर भी मत देखो। इसीलिए वह बुद्धू है, नालायक है और स्कूल के हर क्विज़ में उसे मात खानी पड़ती है। स्कूल में ऊंचा दर्जा नहीं आएगा तो वह ऐन्जीनियर नहीं बन पाएगा। सुकुमार सोचता है कि जो लोग ऐन्जीनियर नहीं होते वे क्या मनुष्य नहीं होते। क्या दुनिया को मनुष्य नहीं चाहिए, केवल ऐन्जीनियर ही चाहिए?

ऐन्जीनियर महोदय प्रोफेसर प्रशान्त के यहां प्रायः आते रहते हैं। यही एक ऐसा परिवार है जिसके बीच बैठकर वह घर जैसा अपनापन महसूस करते हैं। यहां कोई औपचारिकता नहीं निभाई जाती और कोई बनावटी शिष्टाचार नहीं दिखाया जाता। यहां हर विषय पर खुलकर बात होती है। वे आपस में हंसी-मज़ाक भी करते हैं परन्तु क्या मजाल कि इसमें तनिक भी कड़वाहट पैदा हो। प्रोफेसर साहब की बैठक में पड़ी पुस्तकों की ऑलमारियों के शैल्फ भी खुले हैं और यहां बैठने वालों के दिल भी खुले हैं। यहां कोई भी बात दिल को लगने वाली या चुभने वाली नहीं होती। बहस के दौरान कोई भी व्यक्ति अपनी प्रतिष्ठा को बीच में नहीं लाता। अड़ियलपन के पदार्पन का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐन्जीनियर महोदय के बच्चे भी इस बैठक के बैठते हैं। बड़ों के बीच में बैठकर वे बिल्कुल बोर नहीं होते, क्योंकि प्रोफेसर प्रशान्त उनकी रुचियों का पूरा ध्यान रखते हैं और उन्हें किसी न किसी बात में उलझाए रखते हैं। उनके पास अच्छी-अच्छी अलबमें, ऐटलसें, शब्दकोश, ग्लोब, कॉमिक, चित्रकथाएं, ब्रेनों, शतरंज, कैरम आदि बहुत कुछ है। वह बच्चों से उनकी आयु और ज्ञान के स्तर के हिसाब से चित्र-विचित्र प्रश्न पूछते रहते हैं। गणित की बुझारतें, विज्ञान की पहेलियां, रामायण और महाभारत के भूले बिसरे प्रसंग, पंचतंत्र की बोधकथाएं, गुलिस्तान की कहानियां, शाहनामा में आए शौर्य के प्रसंग आदि बहुत से समृद्ध स्रोत हैं उनके पास। वह इनमें से बहुत कुछ पूछते हैं और बताते हैं तथा उनमें उत्सुकता बनाए रखते हैं। बच्चों में सुकुमार सबसे अधिक जिज्ञासु हैं। प्रोफेसर साहब की संगति से ज्यों-ज्यों उसका ज्ञान बढ़ रहा है त्यों-त्यों वह पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों आदि के लिए बेचैनी महसूस करने लगा है।

वह मम्मी-पापा के साथ जब बाजार जाता है तो प्रायः अन्यमनस्क-सा रहता है। दुकानों के शो-केसों में सजे रेडियो सैट, कैसेट प्लेयर, ब्लोअर, मिक्सियां, थर्मस फ्लास्क, कमीजें, पैन्टें, बेबीसैट, स्वैटर, चाकलेट, पेस्ट्रियां तथा तरह-तरह के खेलों के सामान उसे इतना आकृष्ट नहीं करते। इन चीज़ों की उसे कभी कमी महसूस नहीं हुई। उसकी मम्मी ने अपना स्टैन्डर्ड बनाने

की फिराक में घर को विलास सामग्रियों का एक अच्छा खासा अजायबघर बना रखा है। चाय पीने के लिए कई तरह के ब्रेकेबल, अनब्रेकेबल, चाइनाक्ले, कांच, स्टेनलैस आदि के प्यालों, तशतरियों के सैट रखे हुए हैं। डिनर सैट भी उनके पास बहुत कीमती हैं। सौ-दो सौ रुपए या कई बार इससे भी अधिक कीमत के शोपीस खरीदे जाते हैं। ड्राइंग रूम के लिए इन चीज़ों से बच्चों की आंखों की भूख मिटती है। और बड़ों के अहं की तुष्टि होती है। गली-मुहल्ले में परिवार के स्टैन्डर्ड की धाक जमती है परन्तु पता नहीं पत्रिका या पुस्तक से मम्मी-पापा को क्या चिढ़ है। मम्मी-पापा के साथ बाजार में घूमते हुए सुकुमार जगह-जगह अटक जाता है। शहर में पुस्तक विक्रेताओं और अखबार वालों की पांच-छः दुकानें हैं जो बीसियों तरह की पत्रिकाओं और पुस्तकों से लदी रहती हैं। जब भी कोई ऐसी दुकान आती है सुकुमार रुक जाता है और उसकी जिज्ञासु दृष्टि सफेद चादर बिछे चौड़े तख्ते पर फैली पत्रिकाओं पर फिसलने लगती है। मम्मी बाजू पकड़ कर खींचती है और पापा खीझते हुए आठ-दस कदम आगे निकल जाते हैं। उधर दुकानदार अलग से नाराज़ होता है। सुकुमार डरता-डरता किसी पत्रिका का मुख पृष्ठ उलटता है परन्तु उसका ध्यान दुकानदार की ओर ही होता है। कहीं वह धूल झाड़ने वाला झाड़न लगा डंडा ही न दे मारे उसके हाथ पर। मुफ्त में कहानी पढ़ लेने या चित्र देख लेने का प्रयत्न करने वाले बच्चों को डराने वाले इस डंडे से उसे बहुत डर लगता है। वह मुफ्तखोर नहीं बनना चाहता। चोरी से नहीं पढ़ना चाहता। परन्तु उसका जिज्ञासु मन उसकी नज़रों को धक्के देकर आगे करता है।

दुकानदार की नज़र बचाकर किसी कहानी पर नज़र दौड़ा लेने वाले या किसी कॉमिक के पांच-सात चित्र आंखों में भर लेने वाले बच्चे उसने बहुत देखे हैं। इन पर तो दुकानदार की डांट-डपट का भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वे मौका लगते ही तख्ते पर से पराग या बालभारती का कोई अंक उठा लेते हैं और जल्दी-जल्दी इनके पृष्ठ पलटने लगते हैं। वे शायद गरीब मां-बाप के अभावग्रस्त बच्चे होते हैं जो तन से भी भूखे होते हैं और मन से भी। परन्तु सुकुमार को क्या कमी है। उसे तो मांगी हुई चीज़ भी छिपकर पढ़नी पड़ती है। अपनी पाठ्य पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ भी पढ़ना मानों अपराध हो। फिर भी वह आशावान है। प्रोफेसर अंकल के ड्राइंग रूम की हर चीज़ पर वह अपना अधिकार समझता है। यहां कोई रोक-टोक नहीं है। जब मन चाहे कोई पुस्तक उठाओ और जितनी देर चाहो, बैठ कर पढ़ते रहो। मन चाहे तो चन्द्रलोक में चले जाओ और मन चाहे तो ऊंचे पहाड़ों की सैर करो। बन्दरगाहों पर लंगर डाले खड़े बड़े-बड़े व्यापारिक जहाज, बादलों को परत-दर-परत काटते चले जाने वाले तेज़ रफतार हवाई जहाज़, अनन्त अन्तरिक्ष में प्रवेश करते भीमकाय अन्तरिक्ष यान, हिमालय की बर्फलदी चोटियां, गोली की तरह जानेवाली जापान की रेल, दक्षिण ध्रुवप्रदेश में पैंग्विन की आह्लादमयी कीड़ाएं तथा और बहुत कुछ इस छोटे से ड्राइंग रूम में देखा जा सकता है। सब कुछ भरा है इन पुस्तकों और पत्रिकाओं में।

सुकुमार सोचता है, लोग भी कितने बोदे हैं। उपहार देने के लिए खाने या खेलने की चीज़ों के सिवा इन्हें कुछ सूझता ही नहीं। भला इनसे कोई पूछे कि इतने छोटे से पेट में इतना कुछ कैसे भरा जा सकता है। और फिर खेलना भी तो सिर्फ एक-दो घंटे का ही तो होता है। मैं कोई इतना छोटा बच्चा तो हूं नहीं कि प्लास्टिक के खिलौने से खेलूंगा। प्रोफेसर अंकल कितने समझदार हैं। उन्हें पता है कि मुझे क्या चाहिए। नई कक्षा में जाऊंगा तो ऐटलस मेरे

पास होगी। सिर्फ दो महीने की ही तो देर है, फिर तो सारा क्विज़ मेरी मुट्ठी में होगा। सारी दुनिया की जानकारी मेरे पास होगी। सर, हैरान होंगे, मैडम तारीफ के पुल बांधेगी और होश्यार बने फिरने वाले सुधांशु और देवाशीष दांतों तले अंगुली दबा लेंगे।

चौबीस नवम्बर का दिन आ गया है। अब केवल दो दिन बाकी हैं, परन्तु यह क्या बात है कि तैयारियां अभी से आरंभ हो गई हैं। सुकुमार देख रहा है कि मम्मी किचन में बड़ी व्यस्त हैं। मुंगफली की गिरी, नारियल तथा चिवड़े से एक विशेष प्रकार का नमकीन बनाया बनाया जा रहा है। सैन्ट्रल स्कूल वाली दीदा शुद्ध देसी घी के मेसू बना गई है। बाजार से सेब, केले और अंगूर लाकर रख लिए गए हैं। राधेश्याम हलवाई की दुकान के स्पैशल लड्डू और प्रकाश की दुकान की बर्फी तथा और भी बहुत-सी चीज़ें लाई गई हैं। परन्तु केक कहीं भी दिखाई नहीं दे रहा। इस बार यह जन्म-दिन शायद दूसरे ढंग से मनाया जाएगा। केक काटने से दादा जी नाराज होते हैं। पूजा की जाएगी। हवन होगा। गली मुहल्ले के लोग और मित्र-गण आएंगे। सबको मिठाई खिलाई जाएगी और बड़ों के पैर छूकर उनका आशीर्वाद लिया जाएगा। पिछले वर्ष भी तो दादा जी ने कहा था कि हम भारतीय हैं और भारतीय रीतिरिवाज का निर्वाह करते हुए हमें गर्व का अनुभव होना चाहिए। परन्तु मम्मी कहां मानी थीं उनकी बात। केक काटे और मोमबत्तियां बुझाए बिना तो उन्हें लगता ही नहीं कि जन्म-दिन मनाया गया है। सुकुमार ने हमेशा यह मह महसूस किया है कि उसे तथा उस जैसे बच्चों को हम-उम्र बच्चों की तालियों के साथ-साथ बड़ों के उस आशीर्वाद की भी ज़रूरत होती है जिसमें एक सार्थक प्यार छिपा रहता है। प्रोफेसर अंकल का आशीर्वाद जिसे मिल जाए उसे 'हैपी बर्थ डे' के खोखले शब्द और केक कटने की औपचारिक बधाइयों की ज़रूरत ही नहीं पड़नी चाहिए।

सुकुमार देख रहा है कि घर का ड्राइंगरूम साफ किया गया है। दीवार पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानन्द के पोर्ट्रेट लगा दिए गए हैं। कोनों पर रखी सजावटी मूर्तियों को झाड़ा-पोंछा गया है। सोफे पर रखे कुशनों पर धुले हुए सफेद कवर चढ़ाए गए हैं और चन्दन की गन्ध वाली तीन-चार 'अगर बत्तियां इकट्ठी ही सुलगा दी गई हैं। उधर सर्विस विण्डो वाली दीवार की दिशा में रखे डाइनिंग टेबल पर फलों की ट्रे, चीनी मिट्टी की चमचमाती प्लेटें, चम्मच-कांटे और बाऊल रखे गए हैं। स्पष्ट है कि कोई विशेष मेहमान आने वाले हैं, और लो वे आ भी गए हैं। प्रो० प्रशान्त, उनकी पत्नी वसुन्धरा और बड़ी बिटिया सुप्रिया आकर बैठ गए हैं। सुकुमार के मम्मी-पापा बड़ी विनम्रता और शालीनता से इनकी आवभगत करते हैं। प्रोफेसर साहब ने अपनी आदत और सुकुमार की रुचि के अनुसार तीन-चार प्रश्न छोड़ दिए हैं और वह अपनी चमकती हुई जिज्ञासु आंखों को इधर-उधर मटकाता हुआ उत्तर पकड़ लाने की कोशिश कर रहा है। ऐन्जीनियर साहब की पत्नी सुप्रिया से उसके ससुराल वालों के सामाजिक स्तर, रीति-रिवाज और स्वभाव की जानकारी ले रही हैं तथा ऐन्जीनियर साहब प्रोफेसर साहब को मिले नए स्टेशन के बारे में पूछताछ कर रहे हैं। सुकुमार को थोड़ा-थोड़ा आभास हो गया है कि बात कुछ और ही है।

चायपान में काफी समय लग जाता है। प्रोफेसर साहब बच्चों को ऊबने नहीं देते। नन्हा सुशील इधर-उधर फुदकता रहता है। किशोरावस्था की सुनयना किचन का काम संभाले रखती है। प्रो० प्रशान्त अपने नए स्टेशन की विशेषताएं बताते हैं और साथ ही साथ अपने

ऊपर पड़ने वाली नई ज़िम्मेदारियों पर भी थोड़ी चर्चा करते हैं। वसुन्धरा मकान ढूंढ़ने की परेशानियों की बात छेड़ती है और ऐन्जीनियर महोदय साथ-साथ बिताए पांच वर्ष की स्मरणीय बातों का चित्रांकन करते हैं। लगभग दो घंटे के इस यादगारी सत्र के बाद विदाई के क्षण आते हैं—

'अच्छा सुकुमार बेटे, चलते हैं। हमें पत्र ज़रूर लिखना।' सुकुमार की पीठ थपथपाते हुए प्रोफेसर साहब विदाई लेते हैं।

'सुकुमार बेटे! बिलासपुर यहां से दूर नहीं है। हमें मिलने आया करोगे न?' वसुन्धरा का प्यार उमड़ा पड़ रहा है, उदास सुकुमार के लिए।

सुकुमार चुप है। अब कहने को रह ही क्या गया है। जन्म-दिन तो अभी बहुत दूर है।

[86-चीलगाड़ी, धर्मशाला (हि० प्र०) 176215]

पागल

□ चिनुआ अचेबे
अनुवाद : हरीश नारंग

उसे हाट और सीधी सड़कों से बहुत लगाव था। आस-पास का छोटा-मोटा हाट नहीं कुछ बातूनी औरतें सूर्यास्त के समय बाघें हांकने और शाम के सूप के लिए ओगिली खरीदने के लिए इकट्ठी होती हैं, बल्कि बड़ा-सा, लम्बा-चौड़ा हार जो परिचित, अपरिचित सभी को, दूर पास सभी जगहों से आकर्षित करता हो। सड़कें भी कोई धूल-भरे फुटपाथों जैसी नहीं जो इस गांव से शुरू होकर उस नाले तक समाप्त हो जायें, बल्कि लम्बे-चौड़े, काले, रहस्यमय राजमार्ग जिनका न ओर दिखाई दे और न छोर बहुत खोज के बाद उसने दो ऐसे हाट ढूंढ ही निकाले जो एक ऐसे ही राजमार्ग द्वारा जुड़े थे; यहीं आकर समाप्त हुई उसकी खोज। एक हाट था आफो और दूसरा ऐके। उन दोनों के लगने के बीच दो दिन का समय भी उसे खूब रास आया था। ऐके के लिए चलने से पहले उसके पास आफो में अपना साज़ो-सामान समेटने के लिए काफी वक्त होता था। पहली बार तो रात-भर वह अपनी झुग्गी दुबारा बनाने में ही लगा रहा था क्योंकि दो मोटे-मोटे कूल्हों वाली औरतों ने दिन-भर उससे इस बात पर तकरार की थी कि उस जगह उनका हाट का स्टाल था। पहले तो उसने मुकाबला करने की कोशिश की थी लेकिन औरतें उसे वहां से निकालने के लिए जाकर अपने आदमियों को ले आई थीं—चार मोटे-तगड़े जंगली सांड! उसके बाद से वह हमेशा उनसे बचता रहा। हाट की सुबह को ही वह निकल जाता और सांझ के बाद ही सोने के लिए लौटता। और फिर अगली सुबह वह जल्दी से अपना काम निबटा कर निकल पड़ता उस लम्बी, खूबसूरत, अजगर जैसी बल खाती सड़क पर जो सुदूर ओगबू शहर के ऐके हाट को जाती थी। वह अपना डंडा और मुद्गर हरदम अपने दायें हाथ में तैयार रखता था और बायें से सिर पर रखी चीज़ों की टोकरी को संभालता था। उसने यह मुद्गर पिछले दिनों इसलिए लिया था क्योंकि रास्ते में छोटे-मोटे शोहदे उस पर पत्थर फेंकते और उसके, नहीं-नहीं उनकी अपनी मां के—नंगेपन का मज़ाक उड़ाते थे।

वह सड़क के बीचों-बीच चलता था, उससे बातचीत करते हुए। लेकिन एक दिन एक

(नाइजीरिया के 'चिनुआ अचेबे' अफ्रीका के प्रख्यात उपन्यासकार हैं। अनेक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय पुरस्कारों से सम्मानित अचेबे का पहला उपन्यास 'थिंग्ज फॉल अपार्ट' 1958 में प्रकाशित हुआ और जल्द ही उत्कृष्ट रचना के रूप में चर्चित हो गया था। साठ वर्षीय अचेबे कथाकार और कवि हैं। अफ्रीकी साहित्य को विश्व में उचित स्थान दिलाने में अचेबे का महत्वपूर्ण योगदान रहा है।)

ट्रक का ड्राईवर और उसका साथी चिल्लाकर उस पर टूट पड़े और उसे कई चांटे रसीद कर दिए। उनका कहना था कि उनका ट्रक उस पर—नहीं-नहीं, उनकी अपनी मां पर···उस दिन के बाद वह शोर मचाने वाले इन ट्रकों से भी बचने लगा था जिनमें खानाबदोश सवार होते थे।

एक रात और एक दिन चलने के बाद वह अब ऐके हाट के पास पहुंचने वाला था। आस-पास की सभी छोटी-मोटी सड़कों से लोग हाट की ओर जाने वाले हजूम में राजमार्ग पर शामिल हो रहे थे। तब उसने और लोगों से अलग हाट की विपरीत दिशा में कुछ युवतियों को सिर पर पानी के बर्तन रखे अपनी ओर आते देखा। उसे आश्चर्य हुआ। तब उसने राजपथ से निकलते एक ढलान-वाले रास्ते पर भी दो और बर्तनों को ऊपर उठते देखा। उसे प्यास लग आई और वह रुककर सोचने लगा। फिर उसने अपनी टोकरी सड़क के किनारे रख दी और ढलान-वाले रास्ते की ओर मुड़ा। लेकिन इससे पहले उसने राजमार्ग को बुरा न मानने की प्रार्थना की और न ही उसके बिना यात्रा जारी रखने को कहा। 'मैं तुम्हारे लिए भी ले आऊंगा', उसने पीछे की ओर देखते हुए प्यार-भरे स्वर में कहा, "मुझे पता है तुम्हें प्यास लगी है।"

न्विबे ओगबू का एक सम्मानित व्यक्ति था जो और भी उन्नति कर रहा था। वह धन-वान और ईमानदार था। उसने अभी शहर के 'ओजो' उपाधि प्राप्त लोगों से कहा था कि आने वाले दीक्षा-पक्ष में उसका इरादा उनके प्रतिष्ठित समूह में शामिल होने का था।

"तुम्हारा प्रस्ताव बहुत अच्छा है", उपाधि-प्राप्त लोगों ने कहा। "हम विश्वास तब करेंगे जब हम देखेंगे।" यह उसे बताने का एक आदरपूर्ण तरीका था कि वह एक बार फिर देख ले कि उसके पास इस संस्कार को पूरा करने का सामर्थ्य है या नहीं। 'ओजो' बच्चे के नामकरण संस्कार जैसा तो है नहीं। उस आदमी को मुंह छिपाने की जगह कहां मिलेगी जो 'ओजो' नाच शुरू करके आंगन में पैर पकड़ के बैठ जाये। लेकिन वयोवृद्धो द्वारा यह चेतावनी सिर्फ एक औपचारिकता ही थी क्योंकि न्विबे इतना समझदार था कि कोई नहीं सोच सकता था कि वह ऐसा कुछ भी काम शुरू करेगा जिसे वह पूरा न कर सके।

उस हाट के दिन न्विबे जल्दी उठा था ताकि दोपहर में हाट जाके दोस्तों के साथ ताड़ी के एक-दो गिलास पीने से पहले और अपनी पत्नियों की झोंपड़ियों की छतों की मरम्मत के लिए फूस के बंडल खरीदने से पहले नदी पार के अपने फार्म पर कुछ हल्का-फुल्का काम कर सके। जहां तक उसकी अपनी झोंपड़ी का सवाल था उसने उसकी फूस वाली छत के बदले जिंक की छत लगा कर झंझट हमेशा के लिए ही खत्म कर दिया था। देर-सबेर वह अपनी पत्नियों झोंपड़ियों के साथ भी यह करना चाहता था। मगबोए की झोंपड़ी के साथ तो वह तुरन्त ऐसा कर सकता था लेकिन उसने तब तक इंतजार करने का फैसला किया जब तक कि वह दोनों छतों को एक साथ बदल सके, नहीं तो उडैनक्वो सारे आंगन को सिर पर उठा लेगी। उडैनक्वो उसकी छोटी पत्नी थी—तीन वर्ष छोटी—लेकिन उसे इस बात की बिल्कुल भी परवाह नहीं थी। अच्छी बात यह थी कि मगबोए शान्तिप्रिय औरत थी जो दूसरी पत्नी से अपने यथोचित आदर की मांग पर जोर नहीं देती थी। कभी-कभी तो वह बिना उत्तर दिए दिन-भर उडैनक्वो की जहरीली जबान से कड़वी बातें सुनती रहती। और जब वह जवाब देती भी तो उसके शब्द बहुत ही कम और दबे स्वर में होते।

उस सुबह ही उडैनक्वो ने उस पर एक छोटे-से कुत्ते को लेकर द्वेष और हर तरह की भ्रष्टता का आरोप लगाया था।

"इस छोटे-से पिल्ले ने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है ?" वह इतनी ज़ोर से चिल्लाई थी कि आधा गांव सुन सकता था। "मगबोए, मैं पूछती हूं सुबह-सुबह इस पिल्ले ने ऐसा क्या कुसूर कर दिया ?"

"तुम्हारे पिल्ले ने आज सुबह-सुबह", मगबोए ने उत्तर दिया, "मेरे सूप-वाले बर्तन में में अपना पिछला हिस्सा डाल दिया।"

"फिर।"

"फिर मैंने उसकी पिटाई की।"

"तुमने उसकी पिटाई की ! तुम अपना सूप वाला बर्तन ढककर क्यों नहीं रखती ? बर्तन को ढकना आसान है कि कुत्ते को मारना ? क्या एक छोटे-से कुत्ते के पास उस औरत से ज्यादा समझ हो सकती है जो अपने सूप वाले बर्तन को बिना ढके छोड़ देती है···?"

"उडैनक्वो, बस करो। मैं तुमसे काफी सुन चुकी हूं।"

"मगबोए यह काफी नहीं है, काफी नहीं। मुझे बताओ उस कुत्ते ने तुम्हारा कर्ज देना है। मैंने अपने छोटे बच्चे का गंदा खाने के लिए एक कुत्ता रखा और उससे भी तुम्हारी रातों की नींद हराम हो गई। तुम बहुत खराब औरत हो, मगबोए, तुम बहुत ही खराब औरत हो।"

न्विबे अपनी झोंपड़ी में बैठा चुपचाप यह सब सुन रहा था। उडैनक्वो की आवाज़ में उत्तेजना से साफ ज़ाहिर था कि वह हाट के समय तक यूं ही बोलती रह सकती थी। इसलिए उसने अपने विशिष्ट तरीके से अपनी बड़ी पत्नी को पुकार कर ! दखलअन्दाजी की।

"मगबोए ! सुबह-सुबह मुझे कुछ शान्ति चाहिए।"

"तुम्हें ये गालियां नहीं सुनाई दे रहीं, उडैनक्वो···"

"मुझे उडैनक्वों का कुछ भी सुनाई नहीं दे रहा है और मुझे इस आंगन में शान्ति चाहिए। अगर उडैनक्वो पागल है तो क्या उसके साथ सभी पागल हो जायें ? क्या सुबह-सुबह इस आंगन में एक पागल औरत काफी नहीं ?"

"लो विक्रमादित्य भी बोले", उडैनक्वो ने मज़ाक उड़ाने वाले स्वर में कहा।

"शुक्रिया, विक्रमादित्य जी महाराज। उडैनक्वो तो पागल है। उडैनक्वो हमेशा ही पागल रही है लेकिन तुम लोग जो भले-चंगे हो तुम्हीं···"

"मुंह बन्द कर, बेशर्म औरत, नहीं तो कोई जंगली जानवर तेरी आंखें निकाल लेगा, आज सुबह ही। अपनी बुराई को सारे ओगबू को सुनाने की बजाय अपने ही आंगन तक सीमित रखना कब सीखोगी तुम ? मैं कहता हूं बन्द कर अपना मुंह !"

इसके बाद शान्ति हो गई सिवा उडैनक्वो के बच्चे के चिल्लाने की आवाज़ के जो अभी तक बड़ों की आवाज़ के नीचे दबी हुई थी।

"मत रो, मेरे बाप", उडैनक्वो ने उससे कहा। वे तुम्हारे पिल्ले को मार डालना चाहते हैं, लेकिन जैसे कि बड़े-बूढ़े कहा करते हैं जो चूज़ों के पीछे भागने का फैसला करता है वही खड्डे में गिरता है···।"

दोपहर होते-होते न्विबे ने फार्म पर जो काम करना था वह निबटा लिया था और अब हाट जाने की तैयारी में था। रास्ते की छोटी नदी में उसने काम करते हुए आये पसीने को साफ करने का निश्चय किया, जैसा कि वह हमेशा करता था। उसने आदमियों के नहाने वाले

भाग में एक बड़े पत्थर पर अपना अंगवस्त्र उतार कर रखा और पानी में उतर गया। दिन के इस समय में और हाट के कारण भी इस समय आस-पास कोई नहीं था। लेकिन फिर भी शर्म से उसने अपना सिर रास्ते से परे जंगल की ओर कर लिया।

पागल उसे काफी देर तक देखता रहा। हर बार जब झुककर अपनी अंजुरी में पानी भर कर अपने सिर और शरीर की ओर ले जाता तो पागल उसके नितम्बों के बीच के खाली स्थान को देखकर मुस्कराता। यह वही मोटा आदमी है जो अपने जैसे तीन अन्यों को साथ लेकर आफो हाट में मुझे मेरी झोंपड़ी से निकालने आया था। उसने सिर हिलाया और उसे याद आया : यह वही खानाबदोश है जो राजपथ के बीचोबीच अपना ट्रक लेकर मुझ पर चढ़ बैठा था। उसने फिर एक बार सिर हिलाया और फिर उसे कुछ और याद आया : यही वह बदमाश है जिसने लड़कों को मुझ पर पत्थर फेंकने और उन्हें मेरे नितम्बों—नहीं-नहीं, उनकी अपनी मां के···बारे में फिकरे कसने को उकसाया था। तब वह हंसा।

न्विबे तेज़ी से पीछे मुड़ा और उसने नंगे पागल को हंसते हुए देखा। नदी की गहराई में उसकी हंसी और भी गहरी हो गई थी। तब वह एकाएक वैसे ही रुक गया जैसे एकाएक वह शुरू हुआ था। उसके चेहरे से हंसी का भाव गायब हो गया।

"मैंने तुम्हें नंगा पकड़ लिया है", उसने कहा।

न्विबे ने आंखों पर से पानी साफ करने के लिए चेहरे पर जल्दी से हाथ फेरा।

"मैं कहता हूं मैंने तुम्हें नंगा देख लिया है···"

"लगता है तुम्हें कोड़े खाने की तमन्ना हो रही है", न्विबे ने अपनी आवाज़ में गुस्सा करते हुए कहा, क्योंकि उसने सुन रखा था कि पागल लोग कोड़े के नाम से ही कांपने लगते थे। "मेरे वहां आने तक रुको तो मैं···अरे, यह क्या कर रहे हो···रख दो, एकदम···मैं कहता हूं रख दो!'

पागल ने न्विबे का अंगवस्त्र उठा लिया था और अपने इर्द-गिर्द लपेट लिया था। उसने स्वयं को देखा और फिर हंसने लगा।

"मैं तुम्हें जान से मार दूंगा", न्विबे चिल्लाया और वह गुस्से से किनारे की तरफ बढ़ा। "मैं आज कोड़ों की मार से तेरा पागलपन निकाल दूंगा।"

वे चढ़ाई पर बने पत्थरीले फुटपाथ पर जो दोनों ओर हरियाली छांह वाले जंगल से घिरा था, भागने लगे। भागते, लड़खड़ाते, गिरते न्विबे की आंखों के आगे अंधेरा छा गया। वह फिर खड़ा हुआ, लड़खड़ाया, चिल्लाया और गाली देने लगा। हालांकि रास्ते की ये रुकावटें उसके लिए नई थीं फिर भी पागल ने न्विबे और अपने बीच फासला बढ़ा लिया क्योंकि वह पतला और इकहरे बदन का था जोकि दौड़ के लिए बना होता है। साथ ही वह चिल्लाने और गालियां देने पर अपनी सांस भी बेकार नहीं कर रहा था। वह तो बस भागता ही रहा। नदी पर जा रही दो लड़कियों ने एक आदमी को चढ़ाई पर दौड़ते देखा जिसके पीछे एक, बिल्कुल नंगा पागल दौड़ रहा था। वे अपने बर्तन फेंक कर चिल्लाती हुई भाग खड़ी हुईं।

जब न्विबे राजमार्ग पर पहुंचा तो उसे अपना अंगवस्त्र कहीं दिखाई नहीं दिया और उसकी छाती गुस्से और सांस फूल जाने से फटी जा रही थी। लेकिन वह भागता रहा। उसे चारों ओर लोगों की भीड़ धुंधली-धुंधली दिखाई दी और उसने आंसू भरे स्वर में बिना रुके उनसे याचना की : 'उस पागल को पकड़ो, वह मेरा अंगवस्त्र लेकर भाग रहा है।' अब तक कपड़ा

लेकर भागने वाला आदमी सामने की घनी भीड़ में खो गया था और उसके तथा नंगे आदमी के बीच की कड़ी अब स्पष्ट नहीं थी।

अब न्विबे लगातार लोगों की पीठ से टकरा रहा था। फिर उसने एक कमज़ोर-से बूढ़े आदमी को ठेल कर गिरा दिया जो एक अड़ियल बकरी को रस्सी से बांधे ले जा रहा था। "उस पागल को रोको", वह भर्राये स्वर में चिल्लाया उसका दिल धक्-धक् कर रहा था— "उसके पास मेरा वस्त्र है ?" हर एक ने पहले उसे आश्चर्य से देखा और फिर कुछ कम आश्चर्य से क्योंकि इतने बड़े हाट में ऐसे अजीबो-गरीब दृश्य अक्सर देखने को मिलते थे। उनमें से कुछ तो हंसे भी।

"उनके पास उसका अंगवस्त्र है, वह कह रहा है।"

"यह तो कोई नया मालूम पड़ता है। अभी पूरी तरह पागल लगता भी नहीं है। इसका कोई नहीं क्या ?"

"आजकल लोग भी कितने लापरवाह हो गए हैं। वे अपने बीमार रिश्तेदारों की निगरानी क्यों नहीं करते, विशेष कर हाट के इस दिन ?"

आगे सड़क पर, हाट के बिल्कुल नज़दीक न्विबे के गांव के दो आदमियों ने उसे पहचान लिया और एक ने अपनी टैम वाली लम्बी टोकरी फेंकी और दूसरे ने रस्सी से लटका हुआ ताड़ी का बर्तन, और वे बेतहाशा उसके पीछे भागे ताकि उसे हाट के उस शक्तिशाली, रहस्य-मय क्षेत्र में घूमने से रोक सकें। जब आखिर में वे उसे पकड़ सके तो वह भीड़-भरे चौक में पहुंच चुका था। रोते-रोते, उडैनक्वो ने अपने शरीर के ऊपर के भाग का कपड़ा फाड़कर न्विबे पर लपेटा और हाथ पकड़ कर उसे घर ले चली। वह सिर्फ एक बार ही उस पागल के बारे में बोला जिसने नदी पर उसका अंगवस्त्र उठाया था।

"ठीक है, कोई बात नहीं", एक आदमी ने उसी स्वर में कहा जिसमें पिता अपने रोते हुए बच्चे को समझता है। वे आगे-आगे चले और चुपचाप सुबकियां लेते हुए जिससे उसकी चौड़ी छाती ऊपर-नीचे होती रही। वह बिना देखे उनके पीछे चल आया। गांव के और भी बहुत से लोग जिनमें कुछ उसकी ससुराल से थे और एकाध उसकी मां के गांव से भी था, इस दुखी समुदाय में जुड़ गये थे। एक आदमी ने दूसरे के कान में फुसफुसा कर कहा कि यह बहुत ही खतरनाक ढंग का पागलपन था जो गहरा होता है और आदमी बोलना बन्द कर देता है।

"जिसने भी यह किया उसका बुरा हो", दूसरे ने प्रार्थना के स्वर में कहा।

उसके रिश्तेदारों ने पहले जिस ओझा की सलाह ली उसने ईमानदारी के नाम पर उसका इलाज करने से इंकार कर दिया।

"मैं हां कह सकता था और आपका पैसा ले सकता था", उसने कहा, "लेकिन मेरा काम करने का ढंग ऐसा नहीं है। मेरी ठीक कर सकने की शक्ति सारे ओलू तथा इग्बो में विख्यात है। लेकिन मैंने आज तक दावा नहीं किया कि मैं किसी आदमी को ठीक कर सकता हूं जिसने आनी-म्मो का दैवी-जल पिया हो। यह तो उस पागलपन जैसा है जिसमें आदमी स्वयं हाट के देवता के सामने समर्पण कर देता है। आपको उस पर अच्छी तरह नज़र रखनी चाहिए थी।"

"हमें दोष मत दो", न्विबे के रिश्तेदार ने कहा, "आज सुबह वह जब घर से गया था तो उसके होशो-हवास उतने ही ठीक थे जितने कि तुम्हारे या मेरे। हमें अधिक दोष मत दो।"

"हां, मैं जानता हूं। कभी-कभी ऐसा भी होता है। और यही वे केस होते हैं जिन पर

दवा असर नहीं करती, मैं जानता हूं।"

"तुम कुछ भी नहीं कर सकते ? उसकी जुबान खोलने के लिए भी।"

"कुछ नहीं हो सकता", उन्होंने उसे अपनी शरण में ले लिया है।

यह उस आदमी की तरह है जो अपने लोगों के दमन से भाग कर अलूसी के झुरमुट में जाकर उससे कहता है : "हे देवता, मुझे अपनी शरण में ले लो। मैं तुम्हारा दास हूँ। उसके बाद उसे कोई छू नहीं सकता। वह स्वतन्त्र होता है लेकिन कोई भी उसे दासता से मुक्त नहीं कर सकता। वह आदमियों से तो स्वतन्त्र होता है लेकिन देवता का गुलाम होता है।"

दूसरा डाक्टर उतना प्रसिद्ध नहीं था जितना कि पहला और न ही वह इतना सख्त था। उसने कहा कि केस खराब था, बहुत ही लेकिन जैसी कि कहावत है, बच्चे की हालत पूरी तरह निराशाजनक होने पर भी कोई हाथ-पर-हाथ धर कर नहीं बैठ जाता। वह इधर-उधर हाथ-पैर मारेगा और अपनी पूरी कोशिश करेगा। सुनने वालों ने सहमति में सिर हिला दिया। और फिर उसने अपने आप से कहा : "अगर डाक्टर हर उस रोगी को वापिस भेजने लगे जिसके उपचार के बारे में उन्हें पूरा यकीन न हो तो उनमें से कितने इस व्यवसाय से हफ्ते में एक बार का खाना भी खा पायेंगे ?"

न्विबे का पागलपन ठीक हो गया। वह सीधा-साधा ओझा जिसने यह चमत्कार कर दिखाया, रातों-रात अपने समय को सबसे योग्य "पागलों का ओझा" बन गया। उन्होंने उसे "आभाओं के देश का यात्री"—यह खिताब दे दिया। तब भी यह सच है कि कभी-कभी पागलपन तो चला जाता है लेकिन उसके साथ आया हुआ और बहुत कुछ बाकी रह जाता है—आप इसे पागलपन की परछाईं कह सकते हैं—जो आंखों में से झांकता रहता है। वह आदमी कभी भी पहले जैसा कैसे हो सकता है जिसके बारे में ओलू और इग्बो के असंख्य लोगों ने कहा हो कि उन्होंने उसे आज हाट के देवता के बुलावे पर भीड़ में एकदम नंगे दौड़ते देखा था। वह आदमी तो हमेशा के लिए बिंध जाता है।

न्विबे बहुत ही चुपचाप रहने लगा और जीवन तथा लोगों की हंसी-खुशी के पक्ष से उसने किनारा कर लिया। दो साल बाद दीक्षा-पक्ष में उसने अपने शहर के उपाधि प्राप्त लोगों के समूह में शामिल होने के लिए फिर नये सिरे से पूछताछ शुरू की। अगर वे उसे अपने बीच ले लेते तो शायद वह आंशिक रूप से तो ठीक हो ही जाता। लेकिन उन प्रतिष्ठित लोगों ने बहुत ही सम्मानजनक तथा नम्र तरीके से बातचीत का रुख दूसरी बातों की ओर मोड़ दिया।

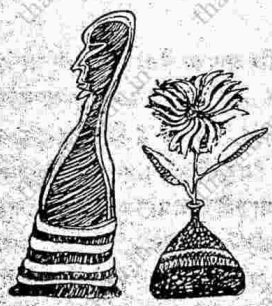

कविता

मरम्मत करने वाले

□ चन्द्रकान्त देवताले

पहाड़ और बांध ही नहीं दिल तक टूटते हैं
टूट-फूट तो होती ही रहती है
पर कई टूट-फूट जोखिमी नहीं होती

दरवाज़ा, दीवार, छत, फर्श
टूट जाने पर अर्से तक काम चलता रहता है
या चलाते रहते हैं हम
क्योंकि इनके कारण विपत्ति नहीं टटती

सायकल या चप्पल-सेंडिल टूटने पर
दिक्कत खड़ी हो जाती है एकाएक सामने
सब कुछ ठहर जाता है फिर भी तबाही नहीं होती
बटन टूटने पर कमीज़ पहनी हो तो
पहने-पहने ही टांक देती है पत्नी
उस वक्त मोहक होता है उसका दाँतों से धागा तोड़ना

पर मरम्मत करने वाले जिन्हें काहिल
पैबन्दबाज समझा जाता नाकारा लोग
ऐसे वक्त ज़रूरी हो जाते

किसी मरम्मत करने वाले को पकड़कर लाओ
बहुत अकड़ते हैं मरम्मत करने वाले
भाव बढ़ गए हैं इनके भी
जैसे जुमले घरों में जब-तब सुनाई देते रहते
और खासकर बारिश के बाद
या घरों में कुछ होने के पहले

मरम्मत करने वाले अक्सर मटमैले कपड़ों में
एक थैली और मुँह भी लटकाए प्रवेश करते
वे टूटी चीज़ों या टूट-फूट की जगह को
इस तरह टोहते जैसे किसी मुश्किल चीज़ में
आँखें डाल रहे हों और निराश स्वरों में कुछ बुदबुदाते
ऐसे दृश्य कम हैसियत वाले घरों में दिखाई देते
और गृह-स्वामिनी इतना सा तो काम
कह आसानी बताती

फिर खटर-पटर शुरू होता ठोका-ठाकी का सिलसिला
बीच में चाय की दरकार धुँआ बीड़ी का
और उनके मुस्तैद हाथ
चीज़ों को मौत के मुहाने से खींच ही लाते
और यह सब करते वक्त उनके चेहरों पर
ऐसा ज़रा थी नहीं उमचता
कि उन्होंने अमर कर दिया किसी मरणासन्न पदार्थ को
क्योंकि उन्हें पता होती उम्र हर दुरुस्ती के बाद
और यह महारत भी कि दो या तीन महीने बाद
फिर मोहताज होगी यह कुर्सी या खाट इसी हथोड़ी की

मज़दूरी चुकाते वक्त शुरू होता असल टंटा
और तब वे हथोड़ी की तरह अटल हो जाते
कभी-कभी तो फिर से पहले की हालत में
ला पटकने तक को तैयार
जैसे-तैसे तय हो जाने पर वे जाते
मातमपुर्सी से लौटते चेहरे के साथ
उनके जाने के बाद चैन की साँस ली जाती
और मरम्मत की गई चीज़ या जगह को इस तरह देखते
जैसे बहुत बड़ी बचत हो गई

[एफ 2/7 माधवनगर, उज्जैन, म० प्र० 456001]

छः कविताएँ

□ बलदेव वंशी

वर्षा में घाटी

धारदार बरसते पानी में
गर्म सांसों खिली
समूची घाटी ही बिला गयी।
घर, हरियाली और पहाड़
घिर रहे लगातार
बरसते पानी में···

पहाड़ों में
बादल अकेले नहीं आते—
अपने साथ लाते हैं पानी। बरसता
पानी लाता है अंधेरा
झुकता आता अंधेरा लाता है
सूरज के सपने···

इन सपनों में होता है
एक चूल्हा
चूल्हे पर पकता भात
और पास बैठी मां
आग की उजास में
मुख पर चमकती नथनी
लाल-लाल बिंदुली
और उड़ते गाते पंछी-सी मुस्कान

किन्तु इस धारदार बरसात में
बिला गयी चूल्हे की आग और चमक और मुस्कान
और इनसानी सांसों की मजबूत
युगों पुरानी पगडंडियां;
अंधेरों में चमकने वाली निशानियां
बिला गयीं सब···

अब !
पहाड़ों से मैदानों तक
पसरी हैं
लंबी दर्दीली कहानियां···

घाटी में बादल

घाटी में आकर
घिर गये दल के दल
राह टटोलते काले बादल···

देवदार, बुरुंश
या इक्का-दुक्का छितराये खड़े
मकानों की छतों पर
रुकते-भटकते
घिर गये बादल

जबकि लाठी टेकती बुढ़िया
और उसके पीछे आती बच्ची
पहाड़ों की पहलदार पस्लियां मापती
लगातार चढ़ रहा है ऊपर
निकल रही बाहर
कोहरा-ढंक घाटी,
धुंध-डूबे घर से,
भटकते भ्रमित बादलों के
अंधे घेरों से

लो !
चोटी पर आकर खड़े हुए

इन दोनों के माथे पर
धूप ने अपने गुनगुने होंठ
धर दिये
और लाल उजाले से
उनके जिस्म
आपाद रंग दिये !...

घाटी और सपने

सपनों में डूब गयी
घाटी।
घाटी में डूब गये
सपने।

ऐसें कहीं दूर होते हैं
मांस से नाखून
और अपनों से
अपने !

मीलों फैली भूख

मीलों ऊंचे पहाड़
मीलों अंधा कोहरा
मीलों फैली भूख

और यहां
बालिश्तों उगता है धान !
बालिश्तों चलती हैं सांसें !
बालिश्तों चढ़ती है धूप !

घाटी : खामोशी

कैसे !
कैसे ख़ामोश हैं पत्थर पेड़ पहाड़
और प्राणी।

इनमें भरी है
घाटी की खामोशी

नहीं।
घाटी
इन सब में
घर कर गयी है !...

श्वेत वर्णी पत्थर

घाटियों में
उमड़-घुमड़ काले बादल
भर गये

और आंखों से
अचानक
श्वेतवर्णी पत्थर
पिघले
झर गये !...

तीन कविताएँ

□ अरविन्द रंचन

जलमुंहा आकाश

रेंगता-फलांगता
भड़कीला-रंगीन
ड्रैगन
विचरता शून्य में
बढ़ आया
झबरी हवा के
झुरमुट में

गहरा-बैंगनी
फैनिल-सफेद
कहीं-कहीं घुप्प काला
भरा-पूरा
जलमुंहा आकाश
गुड़क चमक बरसेगा
हरित तारा सदन पर

धार-धार
तार-तार
बरसेगा जल
धवल चोटियों के
शीर्ष पर
गन्दले हिम नालों के
कंधों पर
काली नदी के वक्ष पर
तीर और
कटाव पर

देखेगी
अभ्यस्त आंख
पिघलती धुंध में
एक तोंदा बर्फ़
एक हिस्सा नदी
एक टुकड़ा शिला

टूटा
और टूटकर
छितरा गया
बह गया
दैत्य जमता ही गया
रक्तबीज़-सा

बरसात में
अलग-थलग हुआ गांव
देखता है आंख फाड़े
सहस्रबाहु-मदमस्त
ड्रैगन
हुंकारता फुंकारता
रेंगते हाथों में
लिए ज्वाला
पृथ्वी पाटता ही गया
महाकाल-सा

दृष्टि पटल पर
ठहर गई दिशाएं
आकाश बिजली घटा
गर्जन तर्जन
ढह गए देवालय
शहीद हुए पहाड़

परके साल की तरह
इस बरस भी
नदी का पहाड़ से
पहाड़ का शिला से

हिमखंड और
शिखर से
टूट गया है नाता
फैलता जा रहा है शरीर
गहरे नीले धुएं का

सूर्यगाथा

1

धूप का सैन्यदल
बढ़ रहा है निरन्तर
चीड़ वन में
स्थापित करता
घाटी घाटी
गांव
घर
आंगन
सूर्य का साम्राज्य

2

क्षितिज पार
एक साजिश के तहत
पश्चिमी छोर पर बुला उसे
एक गोरे सिपाही ने
कर दी है
राजहत्या

3

घाटी घाटी
गांव
घर
आंगन
पसर गई है काली बिल्ली

4

उसे नहीं आना है
अंधेरे में घर

मां कहती है
जब गांव में होती है रात
वह चला जाता है
मलेच्छों के देश
हां लौट आएगा सुबह तक

बाबा कहते हैं
वह कभी कहीं रुकता नहीं
मलेच्छों के देश में भी नहीं
इसीलिए
रोज़ चला आता है

ताम्बे की कील

धुएं के अम्बार
आंख मलता अंधेरा
खुमानी के पेड़ पर गढ़ी
ताम्बे की कील
जलती है लौ
उजली चुनर की कटती लकीर
नींद में चौंका जाती
बाग में घूमती हवा
कच्चे फर्श पर जमी
नम होती दीवार की छाया में
कुलछनी के घर चिमटी गाड़
करती टोना

जागता है द्वेष
रात भुतही
मकान खोलता भय के द्वार
पांव की झांझर खनकती बराबर
एक ही स्वप्न जागता रातभर

नाचता एक धड़
देखती है हातमताई आंख
कील का चमत्कार
खुमानी की डाल पर
बोलता है उल्लू
गूर को बुलावा भेजो
जुटाओ धन-धान
अन्न से
जल से
छाछ से
जड़ को सींचना होगा
लहू से

[पर्वतारोहण केन्द्र, मनाली, हि० प्र०]

छः कविताएँ

□ प्रगति सक्सेना

कवियों को लेकर कविता

पुराने कवियों के पास कुछ नहीं है
नए कवियों को देने के लिए
लिखते हुए उन्हें किसी उलझन का
सामना नहीं करना पड़ता
बैठने के लिए जगह है उनके पास
आराम से सो भी सकते हैं
खड़े होते हैं तो लोग भी
सम्मान में खड़े हो जाते हैं

वे कहते रहते हैं कुछ देना चाहते हैं हम
नए लोगों को पर क्या, वे नहीं जानते

रात के अंधेरे में ऊंघते हुए वे नये होने लगते हैं
नई लाल पत्तियों की तरह सपने में देखते हैं
एक हिरन, दौड़ती रेल और अपना बचपन
उन्हें याद आते हैं अपने घने घुंघराले बाल
तेज़ हवा और आसमान में उड़ती पतंगें

आँख खुलते ही वे सपना भूल जाते हैं
अब वे प्रौढ़ हैं, थके हुए, उन्हें समझ
नहीं आता, वे नये लोगों को क्या दें !

लॉन

इस वक्त यहाँ सिर्फ घास है
बिल्कुल शांत
कोई शायद अचानक आए
घास पर खेले और
यूं ही घास के तिनकों को नोंच डाले
चारों तरफ खिले फूलों को
तोड़ कर अपने घर में सजा ले

या तहस-नहस कर डाले इस शांति को

पर घास फिर उग आएगी
भूमिगत जड़ों से फूट कर आएंगे फूल
फिर होगी यह बिल्कुल चुप
शाम की तरह, मेरी तरह
पेड़ों की तरह
रौंदे जाने को तैयार।

कुछ और

हम चाहते हैं
कुछ और
छोटे-छोटे हाथ बढ़ते हैं
हर नई चीज़ की तरफ
जो हमारे पास है
उससे परे
उससे ज्यादा।

अपनी स्मृतियों के साथ
हम कुछ और लोगों से मिलना चाहते हैं
कुछ और कहना चाहते हैं
उन शब्दों से परे
उनसे ज्यादा।

कुछ और घनिष्ठता
कुछ और संतोष
लगातार होती बारिस से परे
कुछ और

हर बार जो छूट जाता है
हर जगह
हमारी इच्छाओं, उम्मीदों से
परे जाकर टूट जाता है।

जब कोई रास्ता नहीं बचता
थक हारकर हम बैठते हैं
लिखने कुछ और

एक सुबह

एक सुबह
घास जग चुकी होगी
बच्चे खेल रहे होंगे
घर में पानी होगा
बिजली भी

एक सुबह
लोग हँस-बतिया रहे होंगे
किसी को कोई जल्दी नहीं
घर जैसा माहौल

मां रसोई से बाहर
देखते हुए गा रही होगी
आसमान में थोड़े से बादल
जिनसे किसी घर को कोई फिक्र नहीं

अखबार पढ़ने
सनसनी खबर जानने की
कोई हड़बड़ाहट नहीं

अलस्सुबह
जब सब लोग वाकई
सूरज उगने का इन्तजार कर रहे होंगे

मैं जाग पड़ूंगी
और सोने की जिद्द किए बिना

लोग चाहते हैं

मैंने झालर वाली फ्रॉक नहीं पहनी
बाल भी बिखरे नहीं है
बस्ते में रखी किताबें नहीं फटतीं
मैं मिट्टी में नहीं खेल रही

आसपास फूल नहीं है
न फूल इकट्ठा करने की टोकरी
पत्तों में उलझी रोशनी
मुझ तक नहीं पहुंचती

मैं साफ कपड़े पहने हूँ
आसपास सज्जन लोग है
पैरों के नीचे फर्श
सूखा और मुलायम

लोग चाहते हैं
मैं हर काम करूं सोच विचार कर

कुछ लिखो

लिखो कुछ अच्छा सा लिखो
जिसमें एक बड़ा सपना हो
गर्म भोजन की खुश्बू
एक आँसू के गिरने की आवाज़ हो

कुछ अच्छा सा
जिसमें हवाओं का शोर हो

कभी न सुना गया रोना हो
कभी न देखी गई हंसी

हो बहुत सा प्रेम
कुछ लिखो

कम से कम जिसमें हो
एक छोटे से सपने की याद।

[सी० सी० ब्लाक, 81-ए, शालीमार बाग, दिल्ली-52]

समीक्षा

परम्परा का निषेध

□ डॉ० रेवती रमण

'हवाघर' उपन्यास के क्षत्र में युवा कवि केशव का प्रथम प्रयोग है। परन्तु इससे पहले उन्होंने लम्बी कहानियां लिखने का अच्छा अभ्यास किया है। 'एक नदी का मनोवेग' दाम्पत्य जीवन की विडम्बना उजागर करने वाली एक यथार्थवादी कहानी है। जिसमें केशव ने एक ही परिवार के विभिन्न पात्रों के मन की गहराईयां थाही हैं और बिना किसी पक्षधरता के उनकी टूटन का ध्वनि-चित्र प्रस्तुत किया है। ध्वनि पर ज्यादा जोर होता है एक कवि का। 'हवाघर' भी एक उपन्यासिका या लघु उपन्यास के कलेवर में आत्मा के धरातल पर कविता है छह खण्डों की। प्रत्येक खंड के आरम्भ में कुछ व्याख्येय पंक्तियां और तब उनकी व्याख्या का कथात्मक प्रयास भी लगभग काव्यात्मक ही।

इस उपन्यास में तीन मुख्य पात्र अरुणा, राजन और अखिलेश मिलकर प्रेम का त्रिकोण बनाते हैं। अरुणा-राजन दम्पत्ति है जबकि अरुणा-अखिलेश-प्रसंग प्रचलित परकीया प्रेम का रसात्मक ऐश्वर्य लिए है। चरित्र के स्तर पर तीनों एक ओर अविच्छिन्न हैं तथा परस्पर असंबद्ध भी। सभी अपनी कथा स्वयं कहते हैं। प्रथम पुरुष की शैली में भी एक नया प्रयोग। इससे कथाकार के परकाय प्रवेश की क्षमता का पता चलता है। इस दृष्टि से 'हवाघर' नया उपन्यास (न्यू नावेल) है, समस्या और समाधान के व्यावहारिक नुस्खे से बचते हुए इसका कथानक एक यूटोपिया की स्थापना है, पुनः उसका विध्वंस भी। एक नैसर्गिक खुलापन लिए, कथानक में अरुणा का अकेला और स्वतन्त्र जीने का संकल्प इस उपन्यास के समर्पण में व्यक्त है—

जैसे चट्टान का सीना फोड़कर
निकल आती है मुस्कराती
कोई हरी पत्ती
उगना है तो
उगो उसी तरह
अपने बंजर से भी

कोई यहां चाहे तो कथ्य की पहचान भी कर सकता है। वैसे, 'हवाघर' का लेखक निष्कर्ष से बचना चाहता है, शायद पक्षधरता से भी। उसके समक्ष जो चीजें दृश्य और घटनाएँ हैं, वे पाठक की भी उतनी ही अपनी हैं। इस दृष्टि से 'हवाघर' उन प्राचीन उपन्यासों की परम्परा का निषेध है, जिनमें पाठक वही देख पाता था, जो लेखक दिखाना चाहता था। वहां

लेखक सर्वज्ञ था, पर एक जादूगर भी, वह रहस्यों के बारे में सबकुछ नहीं दिखाता था, कई बार अपने नैतिक विचारों और निर्णयों को पात्रों पर लाद भी देता था जिससे पाठक आक्रान्त होकर आस्वाद का धरातल ढूंढ़ने लगता था।

'हवाघर' पारम्परिक प्रयत्नों से भिन्न एक यथार्थवादी कथाकृति है। इसमें लेखक अपने पाठक के साथ ही खिड़की के बाहर ऊपर-नीचे सब कहीं देख सकता है। समूचे रंगमंच पर न केवल अभिनेता के रूप में वह मौजूद है, बल्कि खुद अपना निदेशक भी बन सका है। पाठक यहां सिर्फ एक कहानी नहीं पढ़ रहा है, पूरा एक जीवन जी रहा है। इस नए शिल्प में बिम्ब और प्रतीक अपरिहार्य हो गए हैं। अन्तश्चेतना से संबद्ध गीति तरल क्षणों को आकार देने की कोशिश में इस उपन्यास की मनोवैज्ञानिकता लक्षित होती है, पर यह सामाजिक उपन्यास नहीं है, ऐसा हम नहीं कह सकते।

'हवाघर' न परम्परागत त्रासदी है और न सुखान्त ही। प्रसाद के नाटकों का अन्त जिस तरह होता है, कुछ उसी तरह प्रसादान्त-सुख और दुख के अतिवादी छोरों से लगभग समान दूरी पर। लेखक का मन्तव्य इस प्रसन्न और उदास के मिश्रण में कहीं न कहीं मानव नियति का साक्षात्कार ही करना है कुछ इस तरह कि पाठक अपनी नियति से परिचित हो और बेपरवाह जिए। उपन्यास का प्रतिनायक अखिलेश ही लेखक की जबान बनता है—"हर संबंध हमें एक मुकाम पर ले जाकर अकेला कर देता है। खासकर तब, जब उसमें निहित संभावनाएं पूरी तरह निचुड़ जाती है या हम ही एक लालच में उस सम्बन्ध का सब कुछ निचोड़ लेते हैं। जरूरत इस बात की होती है कि हम उस सम्बन्ध को जितना खाली करें उतना ही भरते रहें, लेकिन लेने का लालच हमें भरने की फुर्सत नहीं देता।

'हवाघर' पति-पत्नी सम्बन्ध के बिखराव की कथा है। यह बिखराव त्रासद नहीं क्योंकि अरुणा की आत्मनिर्भरता का लेखक बुरा नहीं मानता, इससे वह जैनेन्द्रीय भाववाद से बच गया है। 'हवाघर' इसीलिए एक और 'त्याग पत्र' नहीं है, वह रवीन्द्रनाथ का 'स्त्रीर पत्र' भी नहीं, बिल्कुल हमारे समय की किताब है। अरुणा एक बार जब निकल जाती है, तब पीछे मुड़कर नहीं देखती। संस्कारों की लगाम झटक कर वह अपने भीतर विद्यमान एटरनल जिज्ञासा को उन्मुक्त कर देती है। उसके अकेला हो जाने में एक दृढ़ संकल्प है, नया आरम्भ है।

'हवाघर' की कथावस्तु में यह अकेली सुन्दरता न कल्याणी है और न ऐश्वर्यों की खान, यह हमारे समय की मनुष्य की नियति है। कथा का आरम्भ होता है। राजन अरुणा के दाम्पत्य जीवन की मधुरिमा और शरीर सम्बन्धों की गरमाई के कवित्वपूर्ण वर्णन से। शुरू-शुरू में लालित्य सघन है, शहर आने से पहले यह अधिक प्रगाढ़ था, तब उनकी जिन्दगी में एक-दूसरे के सिवा कुछ खास नहीं था। एक-दूसरे के निकट, एक-दूसरे में उगते, बिछते, प्यार करते, एक-दूसरे की दबी आग में झुलसते, फिर एक-दूसरे के लिए खुद को खाली होने से बचाते। उस बचे हुए की पूर्णता की ओर ले जाते। तब राजन की दुनिया भी सीमित थी—घर से दफ्तर, दफ्तर से घर, लगभग अरुणा से शुरू होती उसमें ही खत्म भी। उनका घर एक शान्त झील की तरह था जिसे हवा थपथपाती, ऊपर से मन्द-मन्द-सी लहरें उठतीं, सतह पर बिछती धूप गरमाती, झरकर गिरती बूंदें गरमाई का अहसास दिलातीं।

ऐसे में, कोई अतिथि भी आ जाता तो वे एक-दूसरे को देखते, ऐसी निगाहों से कि इस खलल में हाथ किसका है? फिर धीरे-धीरे एक आश्वस्ति उन्हें घेर लेती, एक साथ उनके होठों

पर मुस्कान बनकर फूट पड़ती। सब लगभग ठीक ही चल रहा था कि अरुणा के जीवन में अखिलेश का आगमन होता है। कारण बिल्कुल मानवीय है। अरुणा जो शादी से पहले नाटकों में अभिनय कर चुकी है, पत्रकारिता और स्टेज में एक साथ सक्रिय अखिलेश का प्रोत्साहन पाकर अपनी कला-तृष्णा की तृप्ति के सपने देखने लगती है, सम्बन्ध सूत्र बनते हैं डा० चौधरी, उधर राजन को नौकरी के सिलसिले में दौरे पर जाना पड़ता है। घर का अकेलापन अरुणा को 'हवाघर' की ओर ले जाता है। राजन को आत्मलीनता, अपने साथ ज्यादा से ज्यादा 'इन्वाल्व' होकर रहना भी अरुणा की विकलता-वृद्धि में सहायक है। उसका स्वागत है "यह सोचकर कैसा-कैसा लगता है, कि कोई अपने साथ इस कदर इन्वाल्व होकर रह सकता है, इतनी निर्ममता से, कभी-कभी तो दूसरे की कीमत पर भी। राजन की अपने अन्दर रह सकते की क्षमता। कभी-कभी तो कोई बहुत कोमल रेशा कट जाता है उसकी पैनी धार से।" (पृ० 10)

राजन अखिलेश की तुलना में संकुचित लगता है। इसका कारण उसके व्यक्तित्व विकास की स्थितियों में है। वह बहुत छुटपन से अपनी विधवा मां के कल का 'दर्पण' रहा है। बचपन में ही उसके पिता छोड़ गए थे दो प्राणियों के लिए तीस-चालीस एकड़ की ठकुराई और एक भारी-भरकम मकान। मकान जितना पुख्ता था, ठकुराई उतनी ही जर्जर। पुरखों की गौरव-गाथाओं से अभिभूत ठकुराई के दरकते टीले पर बैठी राजन की मां हाथ में पकड़े बेंत से सारी दुनिया को हांक सकने की खोखली जिद्द में अटकी रही। राजन अपनी मां के किस्से-कहानियों से निकले प्रसाद ग्रहण करता रहा, ठकुराई से रिसने वाले द्रव को मां द्वारा निर्धारित मिकदार में टॉनिक की तरह पीता रहा, वह मां की दुनिया में धंसता गया लगातार। इससे जो अनुभव हुए, उसका निष्कर्ष यह निकला कि—"विस्तार में आदमी का घनापन और गहराई पतले पड़ जाते हैं। आदमी बिखर जाता है बहुत जगह थोड़ा-थोड़ा पर एक-दूसरे से असंबद्ध होने से बेहतर है एक जगह होना, पूरी तरह होना। (पृ० 27)

राजन अरुणा पर एकाग्र हो गया, अनुभूति के विरल क्षणों में कई बार उसे लगा अरुणा पूरे संसार की मां जैसी है, तब उसने एक बच्चे के रूप में खुद को देखा। परन्तु अरुणा को राजन का दिया सब कुछ भी उसके भरा-पूरा होने के अहसास में सहायक नहीं हुआ।

राजन देखता रहा, देखता रह गया। अरुणा चल पड़ी अपने होने की ओर। शादी के बाद पिता का घर छोड़ना पड़ा था उसे, तब अम्मा ने कहा था—"घर छोड़कर अब मकानों में रहना पड़ेगा तुम्हें। पर बेटी घर तो एक भावना है। अगर इसे सींचती रहोगी तो मकान भी घर लगने लगेगा। अरुणा को शुरू-शुरू में राजन ठाकुर का मकान 'घर' क्या 'हवाघर' लगा—ऐसा जहां कमरे समा जाते हैं एक आकार में। यह आकार चार दीवारों पर पड़ी एक छत नहीं। चार खंबों पर खड़ी एक छत है। हवाघर। जिस पर किसी का नाम नहीं होता, जिसमें खिड़कियां नहीं। हवा चहलकदमी करती निकलती है। आर-पार, पर्दे नहीं, धूप भी जाती है, खिलखिलाती हुई धूप। दरवाजे नहीं इसलिए दस्तक से चौंकने का अभिनय भी नहीं। खूब-खूब हवा। हर कोने को ताजगी से भरती, खूब-खूब धूप, हर अंधेरे को रोशन करती, सीलन को सोखती। (पृ० 12)

लेकिन यह यूटोपिया बनकर रह गया, महज एक दिवा-स्वप्न। 'हवाघर' एक विडम्बना है, ट्रेजिक विजन की केन्द्रीय धुरी। इसके शब्द-शब्द में अवसाद समाया है। अरुणा राजन से छूटकर अखिलेश पर बरसती है धारासार। उसने महसूस किया कि अखिलेश के

व्यक्तित्व में एक लापरवाही-सी झलकती है, उसकी आवाज में उतना ही किसी को अपना बना लेने का जादू-सा है। उसके लिए चुप रहना भी उतना ही सहज है जितना बोलना। जसे काफी देर पहले बोले उसके वाक्य और अभी के बोले वाक्य के बीच कहीं कोई गड्ढा नहीं। कहीं से भी कभी भी कोई शब्द या संवाद बोलकर सबको अपने साथ जोड़ लेने के विश्वास से दीप्त है अखिलेश का चेहरा। अखिलेश से अरुणा का क्रमशः बढ़ता सामीप्य ज्यों-ज्यों उत्कट होता जाता है, त्यों-त्यों राजन के घर की छत उसके सिर के लिए छोटी पड़ती जाती है। घर की चारदीवारी से निकल कर जब वह अखिलेश से मिलती है तब अकेला पड़ जाने का खतरा उसके भीतर आकर्षण बन जाता है, वह तब गाने लगती है खतरे में निहित आकर्षण की प्रबलता को।

अरुणा-अखिलेश-मिलन-प्रसंग इस उपन्यास में नियताप्ति की तरह है, फलागम है दाम्पत्य-रति से मुक्ति के लिए बढ़ता कदम। तब नारी अपनी अस्मिता की पहचान का आरम्भ करती है। इस मिलन-प्रसंग में परकीया प्रेम की आभा और आवेग है। राजन इस प्रसंग को घर में भी, अतिथियों के सामने भी महसूस करता है।

अरुणा राजन से अलग हो जाती है, उसके साथ ही राजन का बहुत कुछ छूट जाता है पर अखिलेश भी तो पुरुष ही है, उसके भी अपने संस्कार हैं। अखिलेश के पिता सेबों के बगीचे और आलू की खेती को ज्यादा समय देते हैं। उनका बाकी समय सामाजिक दृष्टि से सफल अपने दो बड़े बेटों के यहां व्यतीत होता है। प्यार का तलछट ही अखिलेश के लिए है। पिता नहीं चाहते थे कि पढ़-लिखकर अखिलेश पत्रकारिता जैसे नामाकूल धंधे में लगे। वे कई बार तो बड़े भाइयों की सफलता को अखिलेश के खिलाफ हथियार की तरह इस्तेमाल करते, पर उसकी जिद्द में कभी सूराख नहीं कर सके।

अरुणा को इस बीच दो-दो बार एवार्शन कराना पड़ता है, वह अब और बच्चे पैदा करने के अयोग्य साबित हो जाती है। राजन की मां अस्पताल में उसे भला-बुरा कहकर त्याग देती है। अरुणा राजन से छूटकर अखिलेश पर रुकती नहीं। डा० चौधरी उसके लिए हंगरी में स्कॉलरशिप की व्यवस्था कर देते हैं। इस तरह उसका तीसरा जन्म होता है। पहला जन्म राजन ठाकुर की पत्नी के रूप में और दूसरा अखिलेश की प्रेमिका के रूप में (जिसके सामने वह शुरू में प्लेटफार्म हो जाना चाहती है।) तीसरे जन्म की कथा अनकही है; शायद इसके लिए लेखक कोई दूसरा उपन्यास लिखें, वह निश्चित ही नारी के स्वाभिमान और स्वातंत्र्यबोध की कहानी होगी।

पूरा कथानक मनोविश्लेषण का उत्तम उदाहरण है। संवादों में मितकथन की प्रवृत्ति है, ठीक वैसी ही जैसी मोहन राकेश के 'आधे अधूरे' नाटक में। कविता की भाषा में केशव ने प्रगति शैली का उपन्यास लिखा है। घटनाएं अखबार के लिए नगण्य-सी, एक तरह से एलीट वर्ग की दिनचर्या के अनुरोध से व्युत्पन्न, लेकिन उन्हें मूर्त्त करने वाली भाषा मन के भीतर के हल्के से खरोंच को भी सिद्दत से उजागर करती है। अत्यन्त संक्षिप्त से कथानक में कई प्रासंगिक कथाएं मिल गई हैं, जैसे—आरम्भ में ही अरुणा-राजन के एकल परिवार में अतिथि-आगमन-प्रसंग। पुनः अन्त में अखिलेश के साथ कालू का प्रसंग। बिम्बों और प्रतीकों की अपरिहार्यता के बावजूद कथानक का विवेक केशव के कथाकार के पक्ष में है। उनमें वर्णन का पूरा धैर्य है। छोटी-से-छोटी बात वे चित्रकार की तूलिका से चित्रित करते हैं।

हवाघर; केशव; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र० सं० 1984; मूल्य : 40 रुपये।

आंचलिक परिवेश का प्रयास

⊡ सतीश निझावन

हिमाचल कहानी के क्षेत्र में कम से कम दो नामों के कारण राष्ट्रीय स्तर पर जाना जाता है। 'गुलेरी' और 'यशपाल' के नाम से कौन परिचित नहीं। ये ख्याति प्राप्त रचनाकार ही हिमाचल को राष्ट्र के साहित्यिक मानचित्र पर स्थान दिलाते हैं। गुलेरी जी की एक कहानी 'उसने कहा था' तो कहना न होगा कि हिन्दी की सर्वाधिक चर्चित कहानी रही है। यहां इस सब का उल्लेख इसलिए प्रासंगिक है कि इन दोनों स्वनामधन्य कहानीकारों के मूल क्षेत्र (कांगड़ा हमीरपुर) से एक कहानी संग्रह समीक्षार्थ मेरे सामने है। कहानीकार हैं डॉ० प्रत्यूष गुलेरी और कहानी-संग्रह है 'अपनी अपनी-अनकही'। संग्रह का नाम देकर कहानीकार शायद इसी शीर्षक को सर्वाधिक महत्व भी देना चाहता है। अतः पहले इसी कहानी की चर्चा करें। यह कहानी सगे-रिश्तों की चीर-फाड़ की कहानी तो है ही साथ ही शहरी मानसिकता की अमानवीयताओं को भी उघाड़ने का प्रयास करती है। कहानी की दृष्टि से यह एक अत्यन्त महत्व-पूर्ण विषय है जिसे लेकर अत्यन्त सशक्त कहानी लिखी जा सकती है। परन्तु यह कहानी अपनी कतिपय स्पष्ट खामियों के कारण सामान्य स्तर को ही छू पाने का प्रयास भर करती है। यही कारण है कि पाठक पर वांछित प्रभाव नहीं छोड़ पाती और कहानी का अन्त तो पूर्व निर्मित किंचित् मात्र प्रभाव को भी क्षीण कर देता है। कारण यह है कि कहानी के आरम्भ में यह आभास मिलता है कि शायद कहानी का पात्र 'मैं' अपने सगे रिश्तेदारों की 'अहसान-फरामोशी का चित्रण करना चाहता है। परन्तु अन्त तक आते-आते बाप और बेटों की मानसिकता पर से ही पर्दा उठा देता है जिससे 'अनकही' मुखर हो जाती है। यहां रिश्तेदारों की शहरी मानसिकता का प्रभाव भी खंडित होता है। कुल मिलाकर कहानी की सबसे बड़ी खामी उसका विस्तृत फलक है जिसको समग्रता से चित्रित करने में कहानी का शिल्प असफल हो जाता है इससे प्रभाव का घनत्व खंडित हो जाता है। कहीं-कहीं एक संजीदा विषय हास्यास्पद स्थिति में भी पहुंच जाता है जैसे कि कहानी के आरम्भिक दो वाक्य किसी हास्य-रस की कविता का-सा निदर्शन प्रस्तुत करने लगते हैं।

मेरे विचार से 'अपनी-अपनी अनकही' में सर्वाधिक उल्लेखनीय कहानी 'चौकीदार हूं नैनसुख' है। यह कहानी अपना प्रभाव छोड़ने में सफल है और इसका प्रभाव भी कहीं खंडित नहीं होता। शिल्प की दृष्टि से भी कहानी में अन्य सभी कहानियों के मुकाबले कहीं अधिक कसाव है। दफ्तरी लोगों की कारगुजारियों से दुःखी कर्मचारी के मानसिक संघर्ष को प्रलाप के

रूप में बानगी देकर कहानी में मनोवैज्ञानिकता का समावेश किया गया है जो कि इसकी सबसे बड़ी शक्ति है।

कुछ अन्य उल्लेखनीय कहानियों में 'टूटा हुआ आदमी' और 'टुकड़े-टुकड़े विश्वास' तथा 'दफ्तर जंगिया गया है' को विभिन्न कारणों से सम्मिलित किया जा सकता है। पहली दो कहानियों को पहाड़ी परिवेश और मानसिकता के चित्रण के कारण तो 'दफ्तर जंगिया गया है' को दफ्तरी परिवेश में 'काम' के वीभत्स चित्रण के कारण उल्लेख्य कहा जा सकता है। वैसे ये कहानियां भी कुछ बेहतर प्रयास भर लगती हैं। किसी सीमा तक 'यह भी अच्छी रही' कहानी भी उपर्युक्त श्रेणी में सम्मिलित है, परन्तु शेष कहानियां किसी भी प्रकार से 'कहानी' नहीं बन पातीं। वे या तो किसी सामान्य घटना का विवरण भर देती लगती हैं या फिर प्रेमचन्द और गुलेरी की किसी कहानी की छाया मात्र बनने के प्रयास में ही खंडित प्रभाव होकर भुला दी जा सकती हैं। कुछेक कहानियां तो अत्यंत कमजोर, कालेज-पत्रिका में स्थान प्राप्त करने योग्य कहानियों की श्रेणी में ही गण्य कही जा सकती हैं। जो शायद लेखक के प्रारम्भिक प्रयास के फलस्वरूप रची गयी हों। परन्तु प्रारम्भिक प्रयासों को संग्रह में स्थान देने की मजबूरी क्या कहानीकार के कृतित्व की ही बानगी नहीं प्रस्तुत करती ? 'बिच्छू', 'ममता' 'उसके तीसरे दिन', 'मंडराते मेघ', 'बहुत हो चुका' और "प्रेम रत्न सबसे बड़ो" इसी श्रेणी की कहानियां हैं। परन्तु कहानीकार के अनुभव संसार को समझने के लिए इन कहानियों को भी पढ़ना ज़रूरी हो जाता है। रचनाकार के कृतित्व का विकास-क्रम उन्हें पढ़कर स्पष्ट हो सकता है।

शिल्प की दृष्टि से कहानियों में कुछ सामान्य रेखांकन योग्य बातें भी हैं। जैसे कि सभी कहानियां परिवेश के बारे में बताती हैं, परिवेश का सजीव चित्रण नहीं कर पातीं। पहाड़ी आंचलिकता को सायास कहानियों में लाया गया है। यह अनायास उभर कर नहीं आती। कहानियां छोटी-छोटी 'लघु-कथाओं' के विस्तार स्वरूप प्रतीत होती हैं और कलेवर व प्रभाव दोनों दृष्टि से शिथिल होती जाती हैं। कुछ स्थानों पर अतिनाटकीयता के साथ एकांकी नाटक की भाषा का प्रयोग भी खलता है। भाषा व शिल्प की दृष्टि से सभी कहानियाँ साधारण श्रेणी में ही आयेंगी। यद्यपि कुछ देशी-पहाड़ी शब्दों का प्रयोग इनकी शक्ति में वृद्धि भी करता दिखाई देता है। हिन्दी पर पहाड़ी वाक्य रचना का प्रभाव कहीं-कहीं हास्यास्पद-सा भी दिखाई देता है। कहीं-कहीं संस्कृत के तत्सम शब्दों का अतिरिक्त मोह भी लेखक नहीं छोड़ पाता जो कि भाषा प्रवाह में बाधक बन गया है। हां, भाषा की गलतियों की अधिकता को छापे की त्रुटियां माना जा सकता है।

अपनी-अपनी अनकही (कहानी-संग्रह); डॉ० प्रत्यूष गुलेरी; कीर्ति कुसुम, धर्मशाला, (कांगड़ा), हि० प्र०।

लोक संस्कृति

कुल्लू क्षेत्र की लोकनाट्य परम्परा

□ मौलूराम ठाकुर

कुल्लू के लोग मूल रूप से कृषक हैं। कृषि के लिए सख्त मेहनत और परिश्रम की आवश्यकता होती है। वर्ष में जब खेतों-खलियानों में काम होता है, तब वे और तो और चूल्हा जलाने, बर्तन साफ करने और भोजन बनाने में भी समय नष्ट करना पसंद नहीं करते। कहावत है—

आऊ महीना शाढ़,
चार मोंठगले सत्तू रे मार,
कोम कमोणम ध्याड़।

अर्थात् 'आषाढ़ का महीना आया है, चार बड़े पेड़े सत्तू के खा और सारे दिन काम कर'। परन्तु कुल्लू के लोग जहां मेहनती और परिश्रमी हैं वहां कला-प्रेमी और विनोद-प्रिय भी हैं। सर्दी आरम्भ होते ही जब खेती-बाड़ी के काम से प्रायः मुक्त हो जाते हैं तो वे जीवन में विविधता लाने के लिए अनेक मनोरंजन जुटाते हैं। ऐसे मनोरंजक साधनों में लोक-नाट्य प्रमुख हैं।

कुल्लू में लोक-नाट्य की परम्परा बड़ी समृद्ध तथा विशिष्ट है। और यह एक विशेष मर्यादा में बंधी हुई परम्परा है। अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति के सप्ताह भर के दशहरा उत्सव के अंतिम दिन की पूर्व सन्ध्या पर जिसे मुहल्ला की रात्रि कहा जाता है महादेव की हेसण (हेसी जाति की स्त्री, जिनका काम मंदिरों और उत्सवों में गीत-संगीत तथा गाने-बजाने का होता है) ढालपुर मैदान में दशहरा के लिए अस्थायी रूप से स्थापित रघुनाथजी के मंदिर और मूर्ति के सामने विशेष नृत्य और अभिनय प्रस्तुत करके 'हरण' लोक-नाट्य का शुभारम्भ करती है। यह आश्विन पूर्णमासी से पूर्व की रात्रि होती है। उस दिन से लेकर पन्द्रह पौष तक हरण लोक-नाट्य गांव-गांव में खेला जाता है। पोशे-री-पंद्रह (पौष के 15 प्रविष्ठे) की पूर्व संध्या पर एक विशेष स्वांग के माध्यम से मुख्य स्वांगी नाचती हुई हरण के सींग तोड़ देता है और उसी के साथ ही 'हरण लोक-नाट्य' का अन्त हो जाता है। उससे पूर्व पूरे समय में एक बार भांग के डंठलों से बनाए और विशेष रूप से सजाए हरण के सींगों की पूर्ण सुरक्षा की जाती है। उनका बीच में टूटना अपशकुन और अशुभ माना जाता है। पौष की पंद्रह से लेकर आगामी दशहरा के मुहल्ला की रात्रि तक न हरण लोक-नाट्य का गीत गाया जाता है, न संगीत बजाया जाता है, न हरण नचाई जाती है न कोई स्वांग किया जाता है। ऐसा करना भी अशुभ और अपशकुन माना जाता है।

'पोशे-री-पन्द्रह' को दिन के समय पिछले दिनों हरण लोक-नाट्य खेल कर इकट्ठे किए

अन्न और धन से एक बड़े प्रीति-भोज का प्रबन्ध किया जाता है। सारा दिन मौज-मस्ती गुजारने के बाद उसी रात अश्लील लोक-नाट्य का शुभारम्भ किया जाता है। दिन भर के रंग-राग के बाद सभी गांव के सांझे प्रांगण में लोग इकट्ठे होते हैं। बाजे-गाजे के साथ पूरे गांव की परिक्रमा की जाती है और वापिस आकर 'घियाना' जलाया जाता है और अश्लील लोक-नाट्य प्रस्तुत किए जाते हैं। ये नाट्य माघ महीने के अन्तिम दिन तक जिसे 'तरायण (उतरा-यण) साजे' के रूप में मनाया जाता है, खेले जाते हैं। उस रात नाट्य के अंश के साथ 15 पौष को जलाए गए घियाने को बुझा दिया जाता है। उसके बाद आगामी वर्ष के 15 पौष तक उन अश्लील नाट्यों को भूलकर भी नहीं खेला जाता। दूसरे दिन अर्थात् प्रथम फाल्गुन से देव-नाट्य तथा अन्य नाट्य आरम्भ हो जाते हैं जो बैशाखी तक प्रदर्शित होते हैं परन्तु छिट-पुट रूप से कभी-कभार बाद के दिनों में भी प्रस्तुत होते हैं।

कुल्लू के लोक-नाट्य का मूलाधार यहां की देव-प्रथा है। यहां के देव-पूजन में जिस की पद्धति अपनाई जाती है वह आदि से अन्त तक कलात्मक तथा नाट्यात्मक है। वहां के देवताओं के रथ काष्ठ कला और मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और जिस तरह से उन्हें सिर पर या कन्धों पर उठाकर नचाया जाता है उसमें नाट्य-अभिनय के अद्भुत प्रर्दशन देखने को मिलते हैं। देवता का प्रसन्न होना, रुठना, क्रोध व्यक्त करना, खुशी का प्रदर्शन करना अपने-आप में नाट्य-कला के चित्रण हैं। देव-गाथा तथा देव-पूजन के गीत, संगीत, वार्ता, सम्भाषण, और भिन्न मुद्राओं ने ही वस्तुतः यहां के लोक-नाट्यों को जन्म दिया है।

कुल्लू में लोक-नाट्य की यह परम्परा दो-चार सौ वर्ष पुरानी नहीं है। देवी-देवता कुल्लूई समाज के अभिन्न अंग हैं। अतः जितना पुराना यहां का समाज है उतनी ही पुरानी यहां की देव-प्रथा है और निश्चय ही उतनी ही प्राचीन यहां की नाट्य परम्परा है। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी आज हम तक पहुंची है। इस परम्परा में लोक-मानस बोलता है। कुल्लूई लोक-नाट्य की एक अन्य विशिष्टता इस तथ्य पर आधारित है कि यहां के लोक-नाटकों का प्रयोजन मात्र मनोरंजन नहीं है। यहां के लोक-नाटक उपदेशात्मक और नीतिपरक रहे हैं तथा कुल्लूई समाज को धर्म-निष्ठ तथा नीति कुशल बनाने में यहां की नाट्य-परम्परा ने प्रमुख भूमिका निभाई है।

यह भी आश्चर्य की बात है कि इस लम्बे समय में हजारों बार उथल-पुथल के बावजूद कुलूई लोक-नाट्य परम्परा की शैली और स्वरूप ज्यों-का-त्यों बना रहा है। भले ही हरण के स्वांगों में वृद्धि हुई है, उसके कुछ नृत्य भूले जा चुके हैं, परंतु जहां तक उसकी प्रकृति का सम्बन्ध है वह अब भी सुरक्षित है। हरण, कान्त और बूढ़ी के सिवा आज भी कोई चौथा पात्र उसमें शामिल नहीं हुआ है। आज भी वह प्राचीन समय में निर्धारित तिथि से एक दिन पहले या बाद में प्रस्तुत नहीं होता। इसी तरह देऊ-खेल का अभिनय गूर के सिवाय और कोई पात्र नहीं कर सकता। अश्लील नाट्य यदि गांव के सांझे प्रांगण में परम्परा से होता रहा है तो वह वहीं होगा या उसी गांव की सीमा के साथ-साथ खेला जाएगा। उन निर्धारित स्थानों से बाहर अश्लील लोक-नाट्य कभी नहीं हो सकता। इस प्रकार कुल्लुई नाट्य-परम्परा ने अपनी मर्यादा को सदा सुरक्षित रखा है।

नाट्य या नाटक को यहां 'खेल' कहते हैं, जैसे देऊ-खेल, नड़-खेल, हरण-खेल आदि। यहां 'खेल' शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द 'प्ले' का पर्यायवाची है। लोक-नाट्य की शैली और स्वरूप की दृष्टि से यहां के लोक-नाट्यों को निम्न श्रेणियों में बांटा जा सकता है :

1. अभिनय प्रधान : हरण, बांठड़ा, निर्णू।
2. कथा प्रधान : रामलीला, रासलीला।
3. देव नाट्य : देऊ-खेल, कणाश, शरानी।
4. अश्लील नाट्य : राखस खेल, गिहणा, झिहरू, बांढू, गनेड़।
5. स्वांग : पुहाल गद्दियों का स्वांग, शौयरी स्वांग।
6. मखौटा नाट्य-फागली।

अभिनय-प्रधान लोक-नाट्य

यों तो बिना अभिनय के कोई लोक-नाट्य सम्भव नहीं है। अभिनय तो लोक-नाट्य की आत्मा है। परन्तु अभिनय-प्रधान वे नाट्य हैं जिनमें अभिनय की प्रधानता रहती है। इनमें एक कथानक नहीं रहता। छोटे-छोटे प्रहसन या कथानक रहते हैं जो एक के बाद दूसरे अभिनीत होते हैं। उनके अंतराल में लोक-नृत्यों की प्रस्तुति रहती है। कुछ नाट्यों के नृत्य तो विशेष रूप से लोक-नाट्य के अंग ही होते हैं, जैसे हरण लोक-नाट्य के नाट्य नृत्य। ऐसे लोक-नाट्य न हरण लोक-नाट्य से अलग नाचे जाते हैं और न ही लोक-नाट्य से भिन्न उनकी कोई सत्ता है; परन्तु कुछ अन्य अभिनय-प्रधान लोक-नाट्यों में साधारण लोक-नृत्य के नाच बीच-बीच में प्रस्तुत होते हैं जब तक कि दूसरे कथानक की तैयारी नहीं हो जाती। विशिष्टता के आधार पर अभिनय-प्रधान लोक-नाट्यों में हरण का विशेष महत्त्व है।

हरण

हरण शब्द संस्कृत 'हरिण' का तद्भव रूप है। कुछ क्षेत्रों में इसका उच्चारण 'हौर्न' भी है। इस लोक-नाट्य के एक मुख्य पात्र जिसका स्वरूप हरिण पशु जैसा होता है, के आधार पर इस लोक-नाट्य का नाम 'हरण' प्रसिद्ध है। इस लोक-नाट्य के दो पक्ष हैं—नृत्य पक्ष और स्वांग-अभिनय पक्ष। दोनों का एक दूसरे के साथ अटूट सम्बन्ध है। एक पक्ष के बिना दूसरा पक्ष अधूरा है। इनका सम्बन्ध दो आंखों से भी गहरा है। एक नेत्र न होने पर दूसरे नेत्र से आदमी देख सकता है। परन्तु हरण नृत्य के बिना स्वांग नहीं हो सकता और स्वांग-अभिनय प्रस्तुत किए बिना हरण नृत्य नहीं हो सकता।

हरण नाट्य का नृत्य अन्य लोक-नाच से भिन्न है। ढोल, नगारा, दराघ, (बड़ा ढोल, जिसे केवल एक तरफ से बजाया जाता है और नगारे के सहयोग के बिना यह अकेला नहीं बजता) काह्ल (करनाल), नरशिंघा (रणसिंहा), शहनाई, बांसुरी, गलगोज़ा और भाणा इसके वाद्ययंत्र हैं। खेल का आरम्भ काह्ल और नरशिंघा से होता है। इनके बजते ही सबसे पहले हरण डाली जाती है। हरण लोक-नाट्य के मुख्य चार पात्र होते हैं—हरण, कान्त, बूढ़ी और स्वांगी। स्वांगी पांच-छः के लगभग होते हैं और केवल स्वांग-अभिनय से इनका सम्बन्ध है। हरण, कान्ह और बूढ़ी नृत्य-पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं। हरण का एक विशिष्ट परिधान होता है। इसके लिए समान लम्बाई-चौड़ाई के दो चित्रित बारीक ऊन के काते हल्के पट्टू (कम्बल) लिए जाते हैं, जिनमें श्वेत और काले रंग की डब्बियां होती हैं। उन्हें एक तरफ से लम्बाई की ओर और दूसरी तरफ

से चौड़ाई की ओर सिलाया जाता है। सिले हुए भाग को एक आदमी की पीठ के पीछे फेंककर खुले दोनों सिरों को चौड़ाई की ओर टांग तक लटका देते हैं। भांग के सूखे पौधे की लकड़ी के दो टुकड़े लेकर सींग बनाए जाते हैं जिन्हें बाहर से कपड़ों और फूलों से सजाया जाता है। तब सिले हुए पट्टू के सिरे के साथ इन दोनों सींगों को उस आदमी के सिर पर बारीक दुपटे से बांध देते हैं। वह आदमी तब अगली हरण कहलाता है। नाचने से पूर्व वह अपने शरीर को काफी आगे झुका देता है। तब उसके पीछे एक दूसरा आदमी डाला जाता है। वह अगली हरण के नितंभ पर अपना सिर टिका कर स्वयं भी आगे को झुक जाता है। पिछला हरण अगले हरण की पीठ पर दोनों हाथ फैला देता है ताकि हरण पूरा एक शरीर लगे। इसे पिछली हरण कहते हैं। उन दोनों की पीट पर से सिर के सीगों से लेकर पीछे तक दुपट्टा, जिसे स्थानीय भाषा में पट्टकू कहते हैं, लटकाया जाता है। हरण के दोनों व्यक्तियों की पीठ पर से गुज़रता यह दुपट्टा जब शरीर से बाहर पीछे की ओर लटकता है तो पूंछ का काम देता है। इस तरह यह पूर्ण हरण बनती है जो देखने में असल हरिण लगती है।

हरण नृत्य का दूसरा पात्र काह्न कहलाता है। यह करियाला का डांगरा काह्न नहीं है, न चन्द्रौली का काह्न है जो विदूषक होते हैं। काह्न वस्तुतः कृष्ण-कन्हैया ही है। परन्तु इसका अभिनय कन्हैया का नहीं होता। वह हरण और बूढ़ी के साथ नाचने के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं करता। मुंह से कुछ नहीं बोलता। न बूढ़ी नाचने के सिवाय कुछ और अभिनय करती है। दोनों के नृत्य में विलास नहीं है केवल सौन्दर्य है। न दोनों के बीच किसी तरह की छेड़ाखानी, हास-परिहास अथवा प्रेम-युक्त संवाद होता है। इसका लिबास ठीक वही होता है जो स्थानीय सामान्य नाच में पुरुष का होता है। सिर पर टोपा पहना जाता है, जिसमें सोने या चांदी की झालरें और मनाल (मोनाल) पक्षी की सुन्दर और चमकी कलगी सजी होती है। शरीर पर श्वेत रंग का ऊनी चोला और उसी रंग का तंग चूड़ीदार पाजामा पहना जाता है। उसके दायें कन्धे से बायीं कमर को सुनहरी दुपट्टा बांधा होता है। पैर में स्थानीय घास के जूते या आजकल बूट भी पहने जाते हैं।

हरण का तीसरा पात्र बूढ़ी असल में बुढ़िया नहीं होती। इसी के चयन में विशेष ध्यान रखा जाता है, क्योंकि नृत्य का प्रभाव इसी द्वारा अधिक प्रदर्शित होता है। यह पुरुष पात्र होता है जिसे स्त्री की पोशाक पहनाई जाती है—सिर पर थिपू (रुमाल), शरीर पर फूलदार श्वेत पट्टू, सलवार या चूड़ीदार पाजामा, गले में माला पहनी जाती है। यह लड़का जहां देखने में सुन्दर होना चाहिए वहां नाचने में कुशल होना भी आवश्यक है। यदि इसकी मूंछें हों तो इन्हें सफाचट करा दिया जाता है।

हरण के लगभग बारह से अधिक विशिष्ट नृत्य हैं, जो भिन्न-भिन्न प्रकार के गीतों के साथ अलग-अलग शैली में नाचे जाते हैं। परन्तु अधिकांशः नृत्य अब प्रायः भूले जा रहे हैं। यह वैज्ञानिक युग की विशिष्टता है। इस समय लोक-कलाएं प्रायः नष्ट हो रही हैं। फिर भी इस समय हरण के लिए छः नृत्य आवश्यक हैं। ये हैं—साई-बधाई, सूने रा बाधणू, चंदराउली, देवा री खोली, दुध-कटोरु और हरण पाहुणी आई। इनमें एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हुए नाचे जाने वाले सामान्य नाटी-नृत्य शामिल नहीं है। मार्ग में साधारण नृत्य चलते हैं। ये नृत्य सामान्य नाटी के अंश होते हैं। इनका हरण-नृत्य के साथ विशेष सम्बन्ध नहीं होता। हां, हरण खेल को यह अधिक मनोरंक अवश्य बनाते हैं।

हरण का नृत्य प्राय: 'साई-बधाई' से आरम्भ होता है। यह लास्य नृत्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें संगीत बिलम्बित में धीमी गति का होता है। हरण केवल एक जगह नाचती है। आगे-पीछे, इसकी हरकतें रहती हैं। बूढ़ी हरण के सिर से पूंछ की ओर और पूंछ से चल कर सिर की ओर काह्न धीमी गति से नाचते हैं। एक हाथ हरण की पीठ पर और दूसरा कमर पर होता है। बीच में पहुंच कर दोनों हाथ मिलाते हैं। उसके साथ ही दोनों दूसरा हाथ हरण पर फेरते हुए चलते हैं और पहला हाथ कमर पर होता है। 'सूने-रा बाधणूं' नाच में हरण दो कदम दाईं ओर चलकर दो कदम पीछे की ओर चलती है। दूसरी बार दो कदम बाईं ओर चल कर पुन: कदम पीछे हटता है। काह्न और बूढ़ी में से एक हरण के सिर के सामने और दूसरा पूंछ के पीछे नाचता है। काह्न प्राय: कमर में बांधे दुपट्टे के दोनों सिरों को दोनों हाथों में लेकर नाचता है और बूढ़ी के एक हाथ में रूमाल होता है और दूसरा हाथ खाली हवा में नाचता है। समय-समय पर दोनों नाचते हुए चल कर अपना स्थान बदलते हैं। 'चन्द्रा-वली' नृत्य पहले दोनों नृत्यों अर्थात् 'साई-बधाई' और 'सूने-रा-बाधणू' का प्राय: संयुक्त रूप है। यह तीनों बिलम्बित ताल के धीमी गति के नृत्य हैं। तीनों में संगीत और गीत भिन्न-भिन्न होते हैं। इन तीनों नृत्यों में काह्न और बूढ़ी हरण को बहुत दूर नहीं छोड़ते।

'देवी-री-खोली', 'दुध-कटोरु', और 'हरण पाहुणी आई' तीनों नृत्य तेज़गति के नृत्य हैं। इनमें क्रमश: गति तेज होती जाती है। 'देवी-री-खोली में' काह्न और बूढ़ी हरण छोड़ कर कभी उसकी दाईं ओर तथा कभी बाईं ओर दोनों हाथ में हाथ डाल कर नाचते हैं। कभी एक ओर काह्न और दूसरी ओर बूढ़ी नाचती है। स्थान बदलते रहते हैं। हरण नीचे बैठकर घुटनों के बल नाचती है तो काह्न-बूढ़ी भी नीचे बैठ कर पैरों के पंजों पर नाचते हैं। हरण भी नाचती हुई लग-भग एक मीटर के वृत्त में घूमती है। 'दुध-कटोरु' और 'हरण-पाहुणी आई' तलवार नृत्य हैं। काह्न और बूढ़ी एक हाथ में तलवार और दूसरे में मियान लेकर नाचते हैं।

उक्त छ: नृत्य, छ: विशिष्ट लोक-गीतों के आधार पर नाचे जाते हैं। इन छ: गीतों की यह विशिष्टता है कि ये केवल हरण के साथ ही गाए जाते हैं। अन्यत्र ये कभी भी किसी अवसर पर गाए नहीं जाते। वर्ष के किसी अन्य समय इनका गाया जाना अनिष्ट समझा जाता है। इन छ: लोकगीतों की प्रथम पक्तियां इस प्रकार हैं :

(1) साई-बधाई लोको साई-बधाई,
होर्न आई खोली होर्न आई।

(2) सूने रा बाधणू भाइयो, रूपे री नौदी,
औजके बीछड़े भाइयो, मिलले कौधी।

(3) कान्ह बी नौचू ; बूढ़ी बी नौची
होर्न नौची म्हारी,
जोथ चनण दे पियाशा,
रात भियाणा सारी

(4) नौचे-नौचे होरणीए देऊआ री खोली,
सूसी रा सूथणू, छोटे री चोली

(5) नौच भलीए होरणीए दूधे भौरू कटोरू,
भाई चारला भेड़ा बौकरी, भाभी चारली गोरू

(6) हौर्न पाहुणी आई सालीए हौर्न पाहुणी आई
बाहर निकल मेरी सालीए, हौर्न पाहुणी आई

स्वांग-अभिनय पक्ष

स्वांग हरण का दूसरा पक्ष है। जब खलियान में हरण, बूढ़ी और काह्न नाच रहे होते हैं, तब स्वांगी कुछ दूर स्वांग तैयार करते हैं। लगभग दस मिनट नाच के बाद स्वांगी प्रवेश करते हैं। प्रवेश करते ही वे ज़ोर से 'हू-हू' करते हैं। तभी संगीत, वाद्य, गायन बंद होता है। हरण खड़ी उठती है। पीली हरण पट्टू से बाहर आ जाती है और काह्न बूढ़ी सभी किनारे पर खामोश बैठ जाते हैं और स्वांग आरम्भ होता है। यह अपने आप में एक सम्पूर्ण एकांकी होती है। परन्तु इसके न विषय पूर्व निर्धारित होते हैं न ही पात्रों के संवाद रटे-रटाए होते हैं। यह स्वांगियों की योग्यता तथा कुशलता पर निर्भर करता है कि अवसर-विशेष पर कौन विषय लिया जाए और उसे कैसे प्रस्तुत किया जाए। हरण की सफलता का उत्तरदायित्व बहुत हद तक स्वांगियों पर है, और उनके परम्परागत गुण इस दिशा में हर्ष और श्लाघा के विषय हैं। यह लोग प्रकृति से ही बड़े हंस-मुख, उच्चकोटि के गायक, नर्तक, व्यंग्यकार और विनोदी होने के साथ-साथ बढ़िया आशुकवि तथा परिहासपटु होते हैं। अपनी हाज़िरजवाबी और वाक्-पटुता के कारण वे मौके पर ही तत्काल स्वांग बांधते हैं, और मजाल है कि उनकी जबान कहीं लड़खड़ा जाए। किसी की हू-ब-हू नकल उतार कर समां-बांधने में स्वांगी बड़े चतुर होते हैं। चाल-ढाल, रहन-सहन, तौर-तरीके, बात-चीत, हाव-भाव की ऐसी नकल उतारते हैं कि उस जाति या व्यक्ति विशेष का सारा व्यक्तित्व, सामाजिक, सांस्कृतिक धरातल का रूप आइने में डूबता इतराता नज़र आता है। स्वांग करते हुए वे मुंह पर लकड़ी या मिट्टी के बनाए मुखोटे पहनते हैं और अवसरानुकूल वस्त्र धारण करते हैं। स्वांग का कुछ भी विषय हो सकता है। सामान्यत: स्वांग समसामयिक सामाजिक समस्याओं पर आधारित होते हैं। इनके समाधान भी इनमें ही प्रस्तुत होते हैं। इलाका में चोरी, दगाबाज़ी, धोखादेही की कोई घटना हुई हो तो उसे लेकर स्वांग द्वारा उसकी खूब खिल्ली उड़ाई जाती है। बिना नाम दर्शाए ही पूरा चित्रण प्रस्तुत होता है। इस प्रकार सामाजिक बुराइयों पर हरण का स्वांग कड़ा गतिरोध रखता है। मज़ाक ही मज़ाक में सब कुछ सामने आ जाता है। स्वांग जहां स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करता है, वहां यह सुधारात्मक साधन भी है। भले ही नाम-धाम अभिव्यक्त न हों, परन्तु भरे आंगन में खुले आम दोष की भर्त्सना अपराधों और दोषों के रोकने के लिए बड़ी शक्ति है। यही नहीं, समसामयिक विषयों में गांव की समस्या और उसके प्रति सरकार, पंचायत या किसी अन्य संस्था की उदासीनता को लेकर ऐसा स्वांग गठित किया जाता है कि उसका प्रभाव आवेदन-पत्रों तथा प्रतिनिधि-ज्ञापनों से भी अधिक तुरंत देखने में आता है।

हरण के स्वांगी छोटे-छोटे प्रहसनों के माध्यम से लोकपरक अनुभूति और स्वस्थ मनोरंजन प्रदर्शित करते हैं। समाज में प्रचलित अनेक बुराइयों और समस्याओं को एक ही प्रहसन में इस तरह प्रस्तुत किया जाता है कि उनका सही रूप भी प्रस्तुत होता है और उनका समाधान भी। इस समाज में बहुपत्नी प्रथा तो सामान्य रूप से प्रचलित रही है। जहां खेती के श्रम के लिए अधिक पत्नियां सहायक रही हैं, वहां दूसरी ओर उनसे पारिवारिक झगड़े भी खूब पनते हैं। ऐसे दृश्यों का हरण के स्वांगों में खूब उल्लेख हुआ है। सरकार की अधूरी योजनाओं पर खुल के कटाक्ष हुआ है। प्रायः सरकार की ओर से नई सड़क का काम आरम्भ होता है। बजट की कमी हो गई या राजनीति में परिवर्तन आ गया। सड़क किलोमीटर भर बनकर अधूरी रह गई है। अधिक उत्सुकता में बसें चला ली जाती हैं। सड़क पूरी तरह ठीक न होने के कारण महीना भर चलकर बन्द हो जाती है। बिजली गांवों में दी है। लोगों ने अपने पुराने प्रकाश के प्रबन्ध बन्द कर दिए। तभी बिजली भी जबाब दे जाती है। काम ठप्प हो जाता है। नलके चलाए जाते हैं तो उनमें पानी नहीं होता। यह सब परिस्थितियां आजकल स्वांग के विषय बन जाते हैं। एक प्रहसन में एक व्यक्ति की दो पत्नियां हैं। उस दृश्य की झलक देखिए :

—सुना भई झगड़ू चाचा, आनन्द मंगल तो है ?

—कुछ न पूछ सन्तु। हाल खराब है ?

—क्यों ?

—घर से दुखी हूं।

—अरे ! दो पत्नियों का सुख काफी नहीं है क्या ?

—अरे काहे का सुख ! हर दो लानत !

—क्यों ?

—इसलिए कि एक तो है ब्लाक की टंकी ! बरसात में फुल्ल, गर्मियों में सूखी (वस्तुतः उसकी पत्नी गर्भवती थी और पिछली तीन-चार बार काम के दिनों में ही प्रसूत होती थी।

—और दूसरी

—दूसरी है ट्रान्सपोर्ट की बस। मर्जी हुई तो आई, नहीं तो ठप्प (ससुराल लड़ कर बैठ जाती थी)।

एक पत्थर से दो निशाने। स्त्रियों को उनकी कमजोरियों से सावधान भी कराया, साथ ही सरकार की असफलताओं की ओर संकेत भी किया। व्यंग्य हरण की आत्मा है, संवाद इसके प्राण, संगीत एवं नृत्य हृदय।

ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

मोटे तौर पर हरण का बाह्य रूप-विस्तार मनोरंजन का आकर्षक साधन लगता है, और आज इसे मनोरंजन के अतिरिक्त किसी अन्य दृष्टि से देखा भी नहीं जाता। परन्तु यदि हरण के आयोजन को गहराई से देखा जाए तो मन इस बात पर विश्वास करने के लिए विवश होता है कि मूलतः यह मनोरंजन के अलावा पहाड़ी संस्कृति तथा इतिहास की किसी प्राचीन घटना की कड़ियों को संजोए हुए है। हरण लोक-नाट्य का विकास अवश्य ही किन्हीं धार्मिक

मान्यताओं से सम्बन्धित रहा है। कुल्लू-दशहरा के अन्तिम दिन की पूर्व संध्या पर रघुनाथ जी के सामने महादेव की हेसण द्वारा चंद्रावली नाच करके इसका शुभारम्भकर ना ही इस बात का द्योतक है कि इसका सम्बन्ध अवश्य ही कृष्ण लीला से रहा हो। यह बात हरण के मुख्य पात्र 'काह्न' से पुष्ट हो जाती है।

हरण के चन्द्रावली गीत और कुल्लू में प्रचलित लोक-गाथा के अनुसार रुक्मिणी और चन्द्रावली दो बहिनें थीं। कृष्ण रुक्मिणी को ब्याह कर घर लाते हैं। जब कृष्ण उसके सौंदर्य पर लट्टू होकर प्रशंसा करने लगे तो रुक्मिणी ने कहा, "मुझसे भी सुन्दर तो मेरी बहिन चन्द्रावली है। उसके सामने सूर्य भी धूमिल हो जाता है, और स्वर्ग की अप्सराएं भी उसके आगे पानी भरती हैं।" यह सुनकर कृष्ण बिना चन्द्रावली को देखे उस पर मोहित हो गए। और उसे प्राप्त करने की ठान ली। चन्द्रावली को पाने के लिए उन्होंने कई रूप धारण किए। वे भौंरा बन कर गए। चन्द्रावली डर गई। कहने लगी, "भौंरे, तू मुझे डंक मार कर कुरूप करना चाहता है।" वह दौड़ कर एक कोठड़ी में छिप गई। भौंरा मंडराता रहा, मंडरता रहा और असफल होकर वापिस लौटा।

तब कृष्ण ने छेउड़ी (सुन्दर युवती) का रूप धारण किया। सिर पर चादर ओढ़ी। कानों में मुंदरी (बालियां), पैरों में पोलड़ू (भांग के रेशे की जूतियां), गूठी (अंगुली) में, सनांगण (सोने की अंगूठी) की जोड़ियां पहनीं। छातियों पर पवन-कटोरियां लगाईं :

काह्न कीया छेउड़ी रा रूपा, पार धारे नोखी छेउड़ी आई।
काने लाई मुंदरी जोड़ी, पैरे लाई पोलड़ू जोड़ी।
गूंठी लाई सनांगण जोड़ी, दूधू लाई पोण कटोरी।
कुणी कीया छेउड़ी रूपा, गवालटू पूजा गुगल धूपा।

ग्वालों ने अपने गोकुल में आई ऐसी सुन्दर स्त्री का गुग्गल धूप से पूजा करके खूब स्वागत किया। परन्तु शीघ्र ही भेद खुल गया। तब क्या था? ग्वालों ने ऐसी पिटाई की कि कृष्ण को जान बचाकर भागना पड़ा।

तब कृष्ण ने अपनी समस्या बलराम को बताई। बलराम ने समाधान बताया, "तुम हरिण बनो, मैं काह्न बनूंगा, और चन्द्रावली से कहूंगा कि हरिण को शरण दो। काम बन जाएगा।" गोकुल में बलराम गाने लगा :

हरण पहुणी आई सालीए, हरण पाहुणी आई।
बाहर निकल मेरी सालीए, हरण पाहुणी आई।
चौतरे चाधरू आई भौंरीया, दूरा पार-न आई।
छेके नौचे हरणीए, रात आई भियाई।
किरकिटी तेरी बेहणी, रामशौर तेरा भाई।
हरण पाहुणी मेरी सालीए, साई दे बधाई।

हे साली, हरिण पाहुनी (अतिथि) आई है(स्त्रीलिंग में), बाहर निकल आ। तब चन्द्रावली ने पूछा, "कैसा हरिण है?" उत्तरमिला, "यह साधारण हरिण नहीं है। यह तो विशिष्ट हरिण है। किरकिटी (कृतिका तारा) इसकी बहिन है। रामशौर (रामशर नाम का तारा) इसका भाई है।" यह सुनकर चन्द्रावली घर से बाहर निकली और ज्यों-ही उसने नाचते हुए हरिण को देखा तो देखती ही रह गई। फिर क्या था वह हरिण को अपने घर मेहमान ले गई।

उसे कमरे के कोने में रखा और स्वयं बिस्तर पर सो गई। अभी आंख लगी ही थी कि जाग गई। कमरे में प्रकाश था और हरिण की जगह कृष्ण को देख कर स्वयं उस पर मुग्ध हो गई। कृष्ण भी चन्द्रावली के रूप के वश में आ जाते हैं। तब चन्द्रावली कामना करती है कि उनका सम्बन्ध घनिष्ट और लम्बा हो। उनका जोड़ा साई बधाई वाला (मंगलमय) हो।" इस सन्दर्भ से हरण का सम्बन्ध चन्द्रावली से जोड़ा जा सकता है।

एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार तरण लोक नाट्य का संबंध सीता-हरण से जोड़ा है। कुल्लू के भीतरी क्षेत्र में हरण के स्वांगियों को डेंठी कहते हैं। डेंठी शब्द यों तो आजकल साधु-सन्तों के लिए रूढ़ हो गया है, परन्तु वास्तव में इसका मौलिक अर्थ हनुमान है। लोक-विश्वास के अनुसार जब मारीच राक्षस ने सीता-हरण के समय सोने के हरिण का रूप धारण किया था तो अन्ततः श्रीराम ने उसे मार दिया था। सीता की खोज करते हुए जब राम, लक्ष्मण और हनुमान आदि लंका पहुंचे तो सीता के ठिकाने का किसी को पता न चला। तब हनुमान की सलाह पर वानरों में से कुछ ने राक्षस का रूप धारण किया और रावण के पास जाकर अनुरोध किया कि मारीच ने रावण के लिए बहुत बड़ा बलिदान दिया है। उसकी स्मृति में कुछ आयोजन होना चाहिए। रावण इसके लिए सहमत हो गया। तब मारीच की याद में एक खेल रचाया गया। इसमें हनुमान ने मारीच-हरिण का रूप धारण किया और अन्य वानरों ने डेंठी अर्थात् साधुओं का रूप धारण करके इधर-उधर भागना शुरू किया। इस वेश में उन्होंने ऐसे स्थानों पर भी प्रवेश पा लिया जो अन्यथा गुप्त स्थान थे और जहां कोई जा न सकता था। इससे उन्होंने सीता को रावण की कैद में अशोक-वाटिका में खोज डाला था। इस अनुश्रुति के अनुसार उसी घटना की याद में हरण लोक-नाट्य आज तक प्रचलित है।

बांठड़ा

कुल्लूई लोक साहित्य में बांठड़ा मूलतः एक विशेष ताल है और उस ताल पर नाचा जाने वाला एक लोक-नृत्य है। आजकल मंच पर प्रस्तुत किए जाने वाले कुल्लूई लोक-नृत्य हर समय प्रायः बांठड़ा ताल और बांठड़ा नाच से ही आरम्भ होते हैं। परन्तु वास्तव में यह परम्परा लोक-नाट्य से सम्बन्धित है। किसी समय कुल्लू के शहरी क्षेत्रों में बांठड़ा लोक-नाट्य का बहुत प्रचलन था। जब गांवों में हरण लोक-नाट्य दिखाया जाता था, तो शहरों में बांठड़ा आयोजित होता था। आज भी प्रायः यही परम्परा चल रही है। शहरों और नगरों में बांठड़ा का आयोजन होता है जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में हरण का ही प्रचलन है। स्वरूप की दृष्टि से बांठड़ा एक मंच है जिसमें रात भर कई प्रहसन, स्वांग और छोटे कथानक अभिनीत होते हैं। इस मंच का प्रारम्भ सर्वदा बांठड़ा ताल और बांठड़ा नृत्य से होता है। इसी लिए इस मंच का नाम बांठड़ा प्रचलित हुआ।

हिमाचल प्रदेश में बांठड़ा लोक-नाट्य का मूल स्थान मण्डी जिला है। मण्डी जिला में भी सुकेत (वर्तमान सुन्दरनगर) प्रारम्भ से ही बांठड़ा का केन्द्र रहा है। विश्वास किया जाता है कि सुकेत का राजा तथा कुल्लू का राजा किशनदास पचहारी महात्मा के शिष्य थे। यों लगता है कि महात्मा किशनदास द्वारा इस लोक-नाट्य की परम्परा चलाई गई और उसके शिष्य दोनों राजाओं के माध्यम से बांठड़ा की परम्परा सुकेत और कुल्लू रियासतों में प्रचलित हुई। एक अन्य अनुश्रुति के अनुसार बांठड़ा शब्द मूल में वाणिथड़ा है और इसका सम्बन्ध सुकेत के

राजा वीरसेन से है। राजा वीरसेन के समय में सुकेत के लोग अनपढ़ थे। राजा लोगों की निरक्षरता से बड़े परेशान थे। उन्होंने प्रजा में साक्षरता बढ़ाने के उद्देश्य से अनेक कार्यक्रम आरम्भ किए। एक कार्यक्रम के अन्तर्गत राजा ने अपने दरबार के एक संगीतज्ञ और गायक नगेन्द्र को यह काम सौंपा। नगेन्द्र के प्रस्ताव पर राजा ने अपनी रियासत में स्थान-स्थान पर थड़े (पत्थर के चबूतरे) बनाए जहां से नगेन्द्र धर्म-प्रचार और साक्षरता प्रसार के लिए नीति-उपदेश दिया करते थे अर्थात् वे वाणी सुनाया करते थे और इस तरह यह मंच वाणी थड़ा कहलाया अर्थात् ऐसा थड़ा (मंच) जहां से वाणी प्रसारित होती थी। बाद में वाणी थड़ा से ही बांठड़ा शब्द बना। वीरसेन का समय संवत् 1268-1303 के लगभग रहा है। इन अनुश्रुतियों से यह स्पष्ट होता है कि सुकेत और कुल्लू में बांठड़ा की परम्परा एक साथ आरम्भ हुई है और दोनों स्थानों पर इस नाट्य का प्रयोजन समान रहा है।

दोनों स्थानों पर बांठड़ा की शैली और स्वरूप भी लगभग समान रहा है। स्थानीय भेद के कारण उनमें थोड़ा-बहुत भेद अवश्य देखने में आता है। सुकेत क्षेत्र में बांठड़ा का आरम्भ मंगलाचरण से होता है जिसमें प्रायः शिव की स्तुति गाई जाती है। वहां बांठड़ा ताल या बांठड़ा नृत्य से नाट्य का आरम्भ नहीं होता। कुल्लू में बांठड़ा ताल और नृत्य से ही बांठड़ा नाट्य का आरम्भ होता है। इस समय गाए जाने वाले गीतों में सर्वाधिक प्रचलित गीत के आरम्भिक पद इस प्रकार हैं—

चानणी ओ चीरी डाबा,
गुआलुआं रा बांठड़ा हुण लागा।
चानणी ओ चीरी चीरी नेरा,
वर्ष छः महीना रा म्हारा फेरा।

अर्थात् चांदनी पूरी तरह प्रकाशमान है और (इस चांदनी में) गवालों का बांठड़ा आरम्भ हो गया है। चन्द्रमां चलते-चलते मेरा गांव के ऊपर पहुंच गया है। हमारा (बांठड़े का) वर्ष-छः महीने का फेरा है।

बांठड़ा गीत, ताल और नृत्य के बाद नाट्य का पहला दृश्य चन्द्राउली का होता है। चन्द्राउली में प्रायः सात-आठ लड़के घाघरा, चोली, दुपट्टा, गले में हार, हाथों में चूड़ियां आदि स्त्री की वेश-भूषा पहनकर गोपियों का अभिनय करते हैं। लड़कों की आयु बारह-तेरह वर्षों के लगभग होती है। वे निम्न गीत गाते हुए थोड़ी देर मंच पर नृत्य करते हैं—

मोही रे मेरे श्यामा मोही रे
इस बंसी वाले आज मोही रे
सोने की नाहीं रूपे की नाहीं
हरे हरे बांस की बंसी ने पेरी रे
इस बंसी वाले आज मोही रे।

तभी धोती और मुकुट पहनकर कृष्ण मंच पर पधारते हैं। गोपियां नाच बन्द करती हैं और कृष्ण के साथ वार्तालाप आरम्भ करती हैं। कृष्ण उनके साथ नाचने की इच्छा व्यक्त करता है। तब गोपिकाएं एक-दूसरे के हाथ पकड़कर वृत्ताकार बना लेती हैं और कृष्ण को बीच में घेर लेती हैं। इस तरह कृष्ण बंसी बजाता हुआ बीच में और गोपियां वृत में नाचती हैं। थोड़ी देर इस प्रकार नृत्य-अभिनय करने के बाद सभी मंच से बाहर चले जाते हैं।

इसके बाद बांठड़ा में अन्य कथानक प्रस्तुत होते हैं जो समय के अनुसार छोटे-बड़े अनेक होते हैं। इनमें प्रायः देखे जाने वाले पौराणिक विषय सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र, ध्रुवावतार, भगत प्रह्लाद, श्रवणकुमार, पूर्ण भगत, भस्मासुर आदि बहुत लोक-प्रिय रहे हैं। इनमें किसी तरह की नवीनता, मित्रता या विशिष्टता दिखाई नहीं देती। इनका प्रदर्शन वैसा ही होता है जैसा देश के अन्य भागों में देखने को मिलता है। हां, इनके वाद-संवादों में पहाड़ी भाषा-शैली या शब्दावली प्रायः विशिष्टता दर्शाती है। इन धार्मिक या पौराणिक विषयों के अतिरिक्त बांठड़े में स्थानीय लोक-साहित्य तथा संस्कृति के विषय भी छोटे-छोटे रूपकों में प्रस्तुत किए जाते हैं। ऐसे विषयों में निश्चय ही विशिष्टता दिखाई देती है। उदाहरण के रूप में एकाध रूपकों की ओर संकेत करना आवश्यक है।

पूंबा-पूंबी

इसमें पूंबा और पूंबी अर्थात् ऊन पींजने वाले दम्पत्ति का दृश्य प्रस्तुत होता है। उनके आंगण में खूब भीड़ रहती है। लोग आते हैं, जाते हैं। पूंबे को ऊन पींजने से कतई फुर्सत नहीं है। ऊन पिंजाने वालों की होड़ लगी रहती है। हर एक पहले अपनी ऊन पिंजाकर घर लौटना चाहता है। पूंबा का परिवार बड़ा खुशहाल है। उसे ऊन पिंजाई से अच्छा रोजगार प्राप्त होता है। तभी गांव में ऊन पिंजाई की मशीन लगती है और पूंबा-पूंबी का धंधा ठप्प हो जाता है। उनके यहां कोई नहीं आता। कोई रौनक नहीं, कोई भीड़ नहीं। उनके लिए दो जून की रोटी कमाना कठिन हो जाता है। बच्चे भूख से किलकिलाते हैं। पूंबी पति को लोगों के घरों में जाकर ऊन पिंचाने के लिए मजबूर करती है। पूंबा थोड़ा-बहुत कमा लाता है, परन्तु गुजारा नहीं चलता। एक बार फेंबड़ा (सोयाबीन, सरयारा, चावल, मक्कई का पकाया पेय पदार्थ) का छोटा पतीला ऊन की पिंजाई की उजरत में ले आता है। परिवार के सदस्यों के लिए वह पूरा नहीं होता और पत्नी उसमें कुछ नमक तथा पानी डालती है जो अब बहुत पतला हो जाता है। लड़का कहता है 'यह फेंबड़ा है या पानी।' बाप कहता है 'न फेंबड़ा है न पानी, यह तेरी मां का बनाया है खराणा (खारा पानी)।' इस पर झगड़ा शुरू होता है और पूंबा गुस्से में पत्नी से कहता है 'अब तो मैं तेरे सिर के बालों को काटकर पिंजाई करूंगा।' वह सचमुच कात (भेड़ की ऊन काटने की बड़ी साधारण कैंची) लेकर पत्नी के सिर के बाल काटने ही लगता है, तभी दो-तीन व्यक्ति ऊन लेकर आ जाते हैं—"पूंबा भाई, मशीन खराब हो गई है, तीन दिन से चल नहीं रही है, ऊन पिंजा दो" और इस तरह सुखांत निपटारा हो जाता है।

हेड़ी

इसमें डौहलू हेड़ी (शिकारी) का अभिनय प्रस्तुत होता है। डौहलू हेड़ी कुल्लूई लोक साहित्य का एक पात्र है। मंच पर उसे बड़ा आकर्षक दिखाया जाता है। सुडौल शरीर, लम्बा कद, मजबूत भुजाएं, गोरा रंग और जवानी की मदमस्त आंखें। परन्तु सबसे आकर्षक हैं उसकी मूंछें। लम्बी घनी, मोटी, काली, ककड़ सींगी (जंगली पशु 'ककड़' की सींग की तरह मरोड़दार) मूंछों के लिए डौहलू बड़ा प्रसिद्ध है और उसकी बंदूक का निशाना इतना अचूक कि गोली निकली और शिकार धड़ाम से धरती पर। उसका दावा है कि यदि उसका निशाना चूक जाए तो वे मूंछें कटवा देगा। अन्यथा वह मूंछों को बड़े संभाल कर रखता है। कुत्ता उसके हमेशा

साथ रहता है और मूंछों की हरकत से ही कुत्ता समझ जाता है कि कहां क्या है और क्या होने वाला है।

मंच पर आते ही वह दर्शकों का बड़ा मनोरंजन करता है। अपने साथियों के कहने पर वह अनेक पशु-पक्षियों की आवाजें निकालता है—कभी मुंह से कभी सीटी बजाकर, कभी मुंह में उंगली डालकर। हर पशु-पक्षी की भिन्न स्थितियों की आवाजें वह निकालता है—साधारण अवस्था की, डर-भय के वक्त की, शत्रु के आभास होने पर सावधानी की और मीटिंग के समय अपने साथी को बुलाने आदि की।

शिकार पर ही उसका गुजारा चलता है। जमीन-जगह और कोई धंधा कुछ नहीं है। इसलिए कुछ फटे-पुराने कपड़े पहने हैं। लोग पूछते हैं—

"डौहलू भाई दरिघड़े कीबे ?" (डौहलू फटे-पुराने कपड़े क्यों पहने हैं)

"घौरा रा जाल्हा।" (घर की स्थिति कमजोर है)

"करेरी मूंछें" (मूंछें तो बड़ी तान के रखी हैं)।

"मर्दे री आंट" (ये तो मर्द की शान/जिद है)।

लोग ताना कसते—

"मुंह पर बगड़ घास क्यों पाल रखा है ?" (बगड़ एक घास है और मजाक में मूंछों को प्रायः बगड़ घास कहते हैं) वह मूंछों पर ताव देते हुए कहता है :

"दोस्त यह बगड़ घास नहीं मूंछें हैं।"

"इन्हें काट क्यों नहीं देता।"

"इनका मेरे बंदूक के निशाने से सीधा संबंध है। यदि कभी निशना चूक गया तो मूंछें काटूंगा।"

और सचमुच उसका निशाना चूक नहीं जाता और मूंछें शान से फरफराती हैं। सारी उम्र डौहलू ने शिकार ही किया :

"हांड़े हेड़ीया डौहलू मामा, हैड़ा मारीया जीणा"

एक बार वह मादा बीणा (स्थानीय हिरन की एक जाति) मारकर लाता है। पत्नी और बच्चे उत्सुकता से उसके गिर्द बैठ जाते हैं और वह बीणा की खाल उतारना शुरू करता है। देखता है कि मादा बीणा तो गर्भ धारण किए हुए थी और उसके साथ पेट में बच्चा भी मर गया है। उसे बड़ा दुख होता है। पत्नी कहती है 'बात कुछ भी नहीं है यह साधारण बात है, क्या हुआ यदि बीणा के पेट में बच्चा भी मर गया तो ?' परन्तु डौहलू को बड़ा दुख होता है। सारी उम्र उसने ऐसी बात पहले कभी नहीं की। यह उसके लिए अनहोनी थी। पत्नी के लाख समझाने पर उसका मन शांत नहीं हुआ। उन्हें वहीं छोड़कर चला जाता है और पश्चाताप करने के लिए अपनी मूंछें काट आता है। लोग उसका मजाक उड़ाते हैं। क्या उसका निशाना चूक गया ?

कई दिनों तक वह फिर शिकार को नहीं जाता। घर में भूख का बोलबाला हो जाता है। पत्नी के आग्रह पर वह शिकार को जाता है परन्तु वापिस नहीं आता। एक चट्टान पर शिकार को निशाना बांधता है। बंदूक का वापसी धक्का संभाल नहीं पाता। चट्टान से गिरकर नीचे नाले में गिरकर मर जाता है। लोग उसकी तलाश में निकलते हैं—बंदूक कहीं पड़ी है, टोपा किसी दूसरी तरफ पड़ा है और खुद नाले में—सभी अशोक में गाते हैं—

हांड़े हेडीया डौहलू मामा, हेड़ा मारू की बौणा
खाणे-पीणे रा जतन नी, हेड़ा मारीया जौणा
किसे र्‌हीठा सो डौहलू हेड़ी, उठा डौहलू तोपा
एकी नाला-न डौहलू मिलू, होरी नाला न टोपा

झूड़ू भगता

झूड़ू भगता बहुत बड़ा जमींदार है, परन्तु अनपढ़ है। हर बात का उत्तर केवल 'बहुत' में देता है। बीघा-बिसवा का कोई ज्ञान नहीं है। उससे पूछो 'कितनी ज़मीन है?' उत्तर देता है 'बहुत'। कितनी भेड़े हैं 'बहुत'। कितने बैल हैं? 'बहुत'। कितनी गाय हैं? बहुत। गर्ज हर चीज़ 'बहुत' है। तेरे ऊपर कितना कर्जा है? 'बहुत'। कितने खेत खाली है? 'बहुत।'

बात भी ठीक है। कई खेत उसके खाली पड़े हैं। वह उन्हें संभाल नहीं पाता। खेतों में निडाई के लिए जाता है। बिना सब्जी-दाल या नमक के छली की सूखी रोटियां जेब में भरकर ले जाता है। खेत में मिट्टी पर रोटी रखता है। निडाई शुरू करता है। एक टुकड़ा खाता है और सूखी रोटी आगे फेंकता है। निडाई करते हुए वहां पहुंचता है। रोटी उठाता है। एक टुकड़ा खाता है। रोटी आगे फैंक देता है। गर्ज, उसे रोटी खाने के लिए भी समय नहीं। झूड़ू महा कंजूस है। फटे-पुराने कपड़े पहनता है और रूखी-सूखी खाता है।

उसकी कई पत्नियां हैं। परन्तु मर्जी हुई तो खेत को गई, नहीं तो घर बैठी रहती हैं। बेकार बैठी हैं तो घर में झगड़ा होता है। एक-दूसरे को बुरी-भली गालियां देती हैं। उनके झगड़ों और गालियों से सारा माहौल गूंज उठता है। ऐसी गालियां मंच पर सुनने को मिलती हैं जो कभी किसी ने कहीं न सुनी हो। दृश्य सचमुच सम्बन्ध रखता है।

झूड़ू घर आता है तो सब इकट्ठी हो जाती हैं। उससे अपना-अपना हिस्सा मांगती हैं। वह किसकी बात सुने? सभी उसे अपनी ओर खींचती। उसकी दुर्दशा होती है। कोई एक बाजू खीचती है, कोई दूसरा। कोई पीठ में धक्का देती है कोई पेट में। कोई टांगे खींचती है। उसके कपड़ों के चिथड़े-चिथड़े हो जाते हैं। वह उन्हें समझाता है 'सबकी मांगें पूरी होंगी'। मांगें पूरी करने के लिए वह एक खेत बेचता है। मांगें और बढ़ती हैं। वह और खेत बेचता है। हालत यहां पहुंचती है कि उसकी सारी जमीन बिक जाती है, परन्तु पत्नियों की मांगों की सूची घटती नहीं है। एक रात सोई हुई पत्नियों के पैरों के पास एक-एक करके जाता है। बड़बड़ाता है, कहता है 'मैं तुम्हारी मांगें पूरी न कर सका। मुझ माफ करना।' उन्हें सोई हुई छोड़कर केवल एक फट्टा-पुराना पाजामा पहन कर घर से भाग जाता है।

इस तरह बांठड़े के मंच पर लोक संस्कृति और साहित्य के अनेक प्रसंग अभिनीत होते हुए दिखाई देते हैं।

निरशू

कुल्लू के औटर सिराज क्षेत्र में निरशू नाम का प्रमुख लोक नाट्य पूरे वैशाख महीने में गांव-गांव खेला जाता है इसके लिए किसी विशेष मंच की आवश्यकता नहीं होती। सायंकाल को भोजन के पश्चात् लोग गांव के किसी खुले प्रांगण में एकत्रित हो जाते हैं। सब लोग बीच में खुला स्थान छोड़कर चारों तरफ बैठ जाते हैं। कलाकारों के आने-जाने के लिए थोड़ा-सा

रास्ता छोड़ देते हैं। कलाकार निकट के किसी घर के कमरे या बरामदे में तैयारियां करते हैं। जिन दिनों गांवों में बिजली नहीं पहुंची थी उन दिनों प्रांगण या मैदान के चारों कोनों पर लम्बे-लम्बे लकड़ी के डंडों पर तेल में भिगो कर बोरी या कपड़े के चिथड़ों को बांध देते थे और उनमें आग लगा देते थे और इस तरह इन मशालों से प्रकाश का प्रबंध किया जाता था। पर आजकल तो लगभग हर गांव में बिजली की रोशनी का प्रबंध किया जाता है।

यों तो निरशू के लिए विशेष चुने हुए अभिनेता नहीं होते। कोई भी अपनी इच्छानुसार बीच में प्रकट होकर स्वांग रचा सकता है। परन्तु ऐसे स्वांग प्रस्तुत करने में कुछ लोग ही निपुण होते हैं और उन्हें यह निपुणता विरासत में मिली होती है। इन प्रमुख कलाकारों की गांव के लोग सेवाभाव या मेहमानबाजी के रूप में खूब आव-भगत करते हैं। इन कलाकारों के साथ वाद्य-संगीत प्रायः देवता के मंदिर का तो होता है। वाद्य-मंत्र बजाने वालों को भी अनाज आदि देकर सम्मानित किया जाता है।

निरसू में संगीत, नृत्य और अभिनय तीनों की सामूहिक झलक देखने को मिलती है। एक स्वांग के बाद दूसरा स्वांग आने तक जो समय होता है उसमें आम जनता वाद्यवृन्द के साथ नृत्य करती है। ऐसे मध्यांतरों के दौरान बाजगी नृत्य-गीतों के अनुसार ज्यादातर धौडंसी, ढांकुली आदि से संगीत देते हैं। स्थानीय लोग इसे **म्हीन बाजा** अर्थात् पतला या मधुर संगीत कहते हैं। यह म्हीन बाजा जिन वाद्यों में बजाया जाता है उनको सामूहिक रूप से **छावा** का नाम दिया जाता है अर्थात् ऐसे वाद्य जो सब एक ही छावड़े (टोकरी) में रखे जाते हैं। एक छावे में दो ढांकुलियां, दो बांसुरियां, एक छाहड़ी (कांसे की थाली) और एक धौडंसी होती है। इस मधुर म्हीन बाजे के साथ जो विशेष गाने गाए जाते हैं उन्हें **छाड़ी** कहते हैं। इन छाड़ी गीतों में स्थानीय संस्कृति और पौराणिक संदर्भों का उल्लेख मिलता हैं। यथा—

सौरगे बोलो इन्द्र देऊ राजा,
पाताले बासुगी नागा।
कांसे राजे लाई कुआदा,
वांढी गोऊओ लेआ कराओ।
उलटी देओ सुलटी लेओ॥

(स्वर्ग लोक में इंद्रदेव का राज्य है। पाताल में बासुकि नाग का। इस लोक में कंस राजा की अराजकता है। उसने बांझ गौओं पर भी कर लगा दिया है।)

कार्यक्रम के आरम्भ में सबसे पहले फकीर मंगलाचरण गाते हैं। इसमें वे लोग रात्रि के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए देवता की वन्दना करते हैं। इस दौरान देवता का रथ भी अपना प्रमुख नृत्य प्रस्तुत करता है। इस मंगलाचरण में कुछ ऐसा प्रतीत होता है जैसे कि लोग देवता से उस रात होने वाले स्वांगों के लिए क्षमा मांग रहे हों, क्योंकि इन स्वांगों में कभी देवता और उसके गूर पर भी मजाक किए जाते हैं। इतना सब कुछ होने के बाद देवता का रथ एक तरफ विराजमान होता है। तब शुरू होती है स्वांगों की लड़ी। निरसू में कई प्रकार के स्वांग रचाए जाते हैं परन्तु इन सबको देखकर निचोड़ इस प्रकार है कि मुख्यतया ये पांच प्रकार के विषयों से सम्बन्धित होते हैं :—ऐतिहासिक, धार्मिक, पौराणिक साधु-बैरागियों सम्बन्धी व सामाजिक (दैनिक जीवन सम्बन्धी)।

पहला स्वांग डोल बरैकी का होता है। यह एक असाधारण रूप से लम्बे कद की स्त्री

होती है। एक लम्बी लकड़ी पर स्त्री वस्त्र पहना कर इस डोल बरैकी को संगीत के साथ नचाया जाता है। यह स्वांग स्वयं कुछ नहीं बोलता। पर स्वांग उठाने वाले और फकीर अपने वाद्य संगीत के साथ इससे सम्बन्धित आख्यान गाते हैं। मुंह पर या तो मुखौटे पहने जाते हैं या फिर वस्त्र फाड़ कर चेहरे पर बांध, रूप बदलकर गुजारा चलाया जाता है। डोल बरैकी के बाद राजा ध्रुवदेव, मुगलों का भारत में आगमन, भारत में अंग्रेजों के राज इत्यादि से सम्बन्धित ऐतिहासिक स्वांग, रामायण और महाभारत के अंशों पर आधारित पौराणिक स्वांग, मंदिर, ठाकुरों की पूजा और गूर से पचेउड़ मांगने जैसे धार्मिक स्वांग, हरिद्वार के साधु-संत और बीरीभट्ट जैसे संन्यासियों के स्वांग और फिर दैनिक जीवन में विवाह-शादी, हल चलाना, चक्की पीसना, साहूकारी प्रथा और आजकल की राजनीति की कुछ अभिन्न कुरीतियों पर कई प्रकार के सामाजिक स्वांग एक के बाद एक रचाए जाते हैं।

सारी रात स्वांगों, छाड़ी गीतों और नृत्य का क्रम चलता रहता है। सुबह के समय देवता कार्टून भी गड़कू देऊ के रूप में निकाला जाता है। अंतिम झलकी के रूप में सुबह नौताड़ का स्वांग निकाला जाता है। इसमें भी नौ फुट लम्बे असाधारण आदमी का स्वांग नचाया जाता है। सुबह के समय दशी गाई जाती है। दशी के ये टप्पे बैशाख में नई ऋतु शुरू होने का प्रतीक हैं :

एशकी बौर्षे कुयू-चेलू न बाशो।
कि मारो लूणिये कि देशा न नाशो॥

अर्थात् इस साल नई चिड़िया नहीं बोली—क्या बात है ? या तो नमक लाने वालों ने उसे मार दिया है या वह नाराज़ हो कर हमारे देश से भाग गई है। बैशाख का महीना वही समय होता है 'जब वह नई चिड़ियां कुयू' बदलते मौसम के अनुसार इस पहाड़ी इलाके में आती है और अपनी मधुर ध्वनि से लोगों को मोह लेती है। इसकी आवाज़ सुनना लोग बड़ा शुभ मानते हैं—

जो लोउए कोछड़ीए, गेहूं रातीए कीशे।
पाणी दे दशीए, हामे छमाहिए चीशे॥

अर्थात् जो काट दिए हैं और कणक की बालियों में लाल रंग आ गया है। हे भगवन् ! पानी दे दो, हम छह महीने से प्यासे हैं। दशी के इन टप्पों और नौताड़ के नृत्य के पश्चात् निरसू की यह शाम सुबह में बदल जाती है और लोग एक बार फिर से अपने खेतों के काम में व्यस्त हो जाते हैं।

इस प्रकार हरण, बांठड़ा और निरशू कुल्लू के प्रमुख अभिनय-प्रधान लोक-नाट्य हैं। अभिनय इनकी विशिष्टता है। नाट्य की अन्य विधाएं इनमें गौण रहती हैं। हरण में भी नृत्य पक्ष अभिनय से भरपूर है। नृत्य की भंगिमाओं में अभिनय प्रधान रहता है।

कथा-प्रधान लोक-नाट्य

इन लोक-नाट्यों में कथा की प्रधानता रहती है। यों तो हर नाट्य की पृष्ठभूमि में कथा रहती है और उस कथा का मंचीय प्रदर्शन नाट्य होता है, परन्तु कुल्लू के कथा-प्रधान लोक-नाट्यों में प्रमुखतः कथा-प्रवचन ही प्रधान है और शेष भाग कथा में छिप जाते हैं। ऐसे नाट्यों में निम्नलिखित प्रमुख हैं :

रामलीला

कुल्लू में रामलीला का स्वरूप देश के अन्य भागों की रामलीला से भिन्न है। यहां तक कि विश्वविख्यात कुल्लू दशहरा के अवसर पर भी अन्य स्थानों की तरह रामलीला आयोजित नहीं होती। तब न कोई मच लगाताहै न मंच पर रामलीला का अभिनय होता है। न रावण, कुम्भकरण आदि के पुतले जलाए जाते हैं। कुल्लू में रामलीला के नाम पर राम-कथा सुनाई जाती है। भले ही कभी-कभार कुल्लू शहर में बाहर से आई मण्डलियां रामलीला दिखाती हैं, परन्तु कुल्लू शहर से बाहर और गाँवों में रामायण को कथा रूप में ही सुनाया जाता है। बीच-बीच में किसी विशेष पात्र को दिखाया जाता है। विशेष सम्वाद आदि प्रस्तुत नहीं होते। यथा जन्म के बाद राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न को विशेष वस्त्राभूषण में दिखाया जाता है। वनवास जाते समय राम, सीता, लक्ष्मण को दिखा दिया जाता हैं। हनुमान को अनेक बार दिखाया जाता है। मारीचि पर तीर चलाते राम को दिखाया जाता है।

वस्तुतः रामायण का पूरा पाठ (जबानी) सुनाया जाता है जो कई रातों तक चलता है और यथा स्थिति किसी पात्र को भी प्रस्तुत किया जाता है। वह अकेला या किसी दूसरे पात्र के साथ कुछेक वाक्य बोल लेता है। हनुमान को ज़रूर उछलता-कूदता प्रस्तुत किया जाता है। यों तो सर्दी के दिनों में अनेक गांवों में ऐसा रामायण-पाठ होता है, जिसमें रामचरित-मानस की चौपाइयों और दोहों का सस्वर पाठ किया जाता है, परन्तु नवरात्रे के दिन राम-कथा के प्रमुख दिन हैं। इस प्रकार रामकथा की विशेषता यह भी है कि अनेक प्रसंग स्थानीय भाषा में बोले और गाए जाते हैं। वस्तुतः सारे क्षेत्र में लोक रामायण की जो प्रथा पाई जाती है वह राम-लीला के अंश ही कहे जा सकते हैं। हो सकता है कि कभी मंचीय राम-लीला की प्रथा रही हो, परन्तु अब केवल उनके प्रमुख अंश हम तक पहुंचे हैं। ग्रामीण जनता अपनी भाषा में गाए और अभिनीत प्रसंगों का सारी रात आनन्द लेती है। उछलता-कूदता हनुमान प्रायः गाता है :

पार हाऊं समुन्दरा जानू।
सीया रा झट पता लानू।
राखसा री जान खानू।
लिंगटा-न औग तड़ानू।
लंका-बे भस्म बणानू।
कुम्भकरण री नींज गुआनू।
रावणा रे पराण नशानू
रामे रे नाऊंए सेऊ बणानू।
राम लछमणा बे पारे पहानू
सीया संगे राम मलानू।
हाऊं या दानू हाऊं सा दानू।

हनुमान कहता है 'मैं समुद्र के पार जाऊंगा। सीता का पता लाऊंगा। राक्षसों की जान लूंगा। अपनी पूंछ में आग लगाऊंगा। लंका को भस्म बनाऊंगा। कुम्भकरण की नींद हराम करूंगा। रावण के पराण पखेरू करूंगा। श्रीरामके नाम पर पुल बांधूंगा। राम और लक्ष्मण को समुद्र पार पहुंचाऊंगा। सीता के साथ राम को मिलाऊंगा। मैं दानव-वीर हूं, दानव वीर हूं।

रास-लीला

श्रीराम-कथा की तरह ही गांवों में श्रीकृष्ण के जीवन के सम्बन्ध में भी अनेक प्रसंग कथा रूप में कहने और गाने की परम्परा है। श्रीराम और श्रीकृष्ण के प्रति लोगों में बड़ी श्रद्धा, भक्ति, आस्था और अगाध विश्वास है। इसलिए इनकी कथाएं कुल्लूई समाज में बहुत प्रसिद्ध हैं। लीला नाट्य के रूप में इनके जीवन की अनेक घटनाएं प्रस्तुत होती हैं। गांवों में साज-सज्जा और मंचीय वस्तुओं की कमी होती है। इसलिए मूल रूप में कथा सुनाई जाती है और समय-समय पर प्रमुख पात्र को दर्शाया जाता है। यथा—कृष्ण-जन्म की घटना बताते हुए एक पात्र को वसुदेव बनाकर उसके सिर पर छोटे शिशु को टोकरी में बिठाकर गोकुल के लिए प्रस्थान कराते हैं। वह मंच पर यमुना नदी में से गुज़रने का अभिनय करता है।

इसी तरह गोकुल में बाल-लीला के अनेक प्रसंग दर्शाएं जाते हैं। लीला सम्बन्धी अनेक लोक-गीत समय-समय पर सुनाए जाते हैं। भले ही सभी प्रसंग नाटकीय रूप से प्रदर्शित नहीं होते परन्तु जो भी दृश्य प्रस्तुत होता है वह क्रम से कटा हुआ या घटना से पृथक् नहीं लगता। पूतना की घटना है तो कथा रूप में सुनाई जाती है। परन्तु मंच पर एक पुरुष पात्र को स्त्री की वेशभूषा पहनाकर उसे पूतना दिखाकर उसकी छाती पर एक बालक को दूध पीते दिखाया जाता है और साथ ही उसके तड़पने का दृश्य बड़ा मनोरंजक नज़ारा प्रस्तुत करता है। इसी तरह गोवर्धनधारण, कालिया दमन, कंस के उपद्रव, कृष्ण-सुदामा, शिशुपाल-बद्ध आदि अनेक घटनाओं से सम्बन्धित दृश्य प्रस्तुत होते हैं। मार्ग-शीर्ष और फागुन के महीने इन नाट्यों के प्रमुख दिन होते हैं। तारापुर फागली में रोपड़ी गांव में मनाई जाने वाली कतरूसी नारायण (कृष्ण-नारायण) की फागली में गूर श्रीकृष्ण की पूरी कथा सुनाता है समय-समय पर सभी गूर तथा उपस्थित दर्शक-समाज खड़े उठकर मंच की पूरी परिक्रमा करते हैं। उस समय कृष्ण लीला के कई स्थानीय प्रसंग भी सुनने और देखने को मिलते हैं जिनका संदर्भ भागवत पुराण में भी नहीं मिलता। उस समय नड़ का अभिनय देखते ही बनता है। श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का वह कई तरह से अभिनय करता है।

लोक-भाषा और लोक-संस्कृति की वेश-भूषा ने इन लीला-नाट्यों को लोगों में बहुत लोक-प्रिय बनाया है। स्थानीय भाषा मिश्रित हिन्दी में कथा की अनूठी शैली सुनने और देखने को मिलती है। अभिनय में नाच की अधिकता, गीतों की प्रधानता, संवादों का अभाव, कथा का प्रवाह इन नाट्यों को निश्चय ही ग्राम्य-धर्म का जामा पहनाते हैं। कुल्लूई समाज देव-संस्कृति का तो उपासक है, इसलिए राम-लीला और कृष्ण लीला की भक्ति-भावना इनकी रुचि के पूर्ण अनुकूल रही है। यह देखने में आया है कि यदि कथावाचक गायक भी है तो वह रात भर लोक मंच को सजीव रखता है। वह कथा के पाठ को गाता है और अभिनेता उसके सन्दर्भ के अनुसार अभिनय कम और नाचते अधिक हैं। राधा-कृष्ण की प्रणय-लीला श्रृंगार और भक्ति-भावना को उत्कृष्ट ढंग से संजोए रखती है।

देव-नाट्य

देव-नाट्य से अभिप्राय ऐसे नाट्यों से है जो देवी-देवताओं से सम्बन्धित हैं या जो देवी-देवताओं के सम्मुख या मंदिरों में खेले जाते हैं। वस्तुतः ये सामान्य लोक-नाट्य नहीं हैं। ये मर्यादा में बन्धे हुए नाट्य हैं और नाट्य नाम से जाने भी नहीं जाते। न इन्हें लोग खेल समझते

हैं। परन्तु इनमें विशेष मर्यादा और पवित्रता की भावना होते हुए भी इनके नाट्य तत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता और भले ही लोग इन्हें खेल न माने फिर भी इनके साथ स्वत: खेल शब्द के जुड़ने से (यथा देऊखेल) इन्हें खेल मानने में कोई सन्देह नहीं है। यह निश्चित है कि ये सभी देव परम्परा से जुड़े हुए हैं।

देऊखेल

जैसाकि नाम से ही स्पष्ट है देऊखेल सामान्य खेल नहीं, वरन् देवताओं का खेल है और देव-नाट्य का यह उत्कृष्ट उदाहरण है। हर कोई इस खेल को नहीं खेल सकता। इसके लिए विशेष पात्र होते हैं—गूर। देवता के समाज का हर कोई व्यक्ति गूर नहीं बन सकता। देवता के विशेष मेले या आयोजन पर जब सारा वातावरण देवता के गाजा-गाजा—दर्जनों ढोल, नगारा, करनाल, रणसिंगा, ढौंसू, दराघ भाणा आदि से गूंज रहा होता है, जिस किसी व्यक्ति में देवता की आत्मा प्रवेश कर जाए, वह जोर-जोर से कांपना, उछलना, कूदना शुरू करे और इस उछल-कूद में उसके सिर की टोपी गिर जाए तो उसे 'बाठर' और इस क्रिया को 'बाठर निकलना' कहते हैं। तब से वे अपने सिर के बाल नहीं काट सकता। अंडे-मुर्गी नहीं खा सकता। तम्बाकू नहीं पी सकता। मासिक-धर्म में बैठी स्त्री के हाथ का और घर का भोजन नहीं खा सकता।

इस बाठर को किसी विशेष अवसर पर जिसे 'रूहर पियाणा' कहते हैं देवता के मलेगे गूर (मुख्य गूर) के कन्धे पर बिठाकर कटे हुए बकरे की गर्दन से निकलती हुई लहू की धारा पिलाकर गूर-समुदाय में प्रवेश दिया जाता है। तब वह वास्तव गूर बनता हैं। एक देवता के दस-बारह गूर होते हैं। यही गूर 'देऊखेल' के पात्र होते हैं।

देऊ-री-सौह अर्थात् देवता के मन्दिर का आंगन या खुला मैदान देऊखेल का मंच होता है। इस मैदान में सारा जनसमूह एक विस्तृत वृत्त अर्थात् खुले दायरे में खड़ा हो जाता है। वृत्त में सबसे आगे की पंक्ति में संगीत-वादक अपने-अपने वाद्य-यंत्रों को बजाते हुए खड़े होते हैं। इस दायरे में एक ओर अन्य लोगों से आगे सभी गूर वरिष्ठता के आधार पर खड़े होते हैं। सबसे वरिष्ठ गूर सबसे आगे दायीं ओर खड़ा होता है और शेष उसकी बायीं ओर वरिष्ठता के आधार पर क्रम से खड़े होते हैं। उनके दायें हाथ में घण्टी तथा बायें हाथ में धड़छ (पूजा का कड़छी की शकल का पात्र) होता है। घण्टी वे बजाते रहते हैं और धड़छ में धूप जलता रहता है। उसी समय देवता का कारदार उन सभी शस्त्रों को—लोहे का गुर्ज, शांकल (जंज़ीरों का गुच्छा), लोहे की कटारें आदि—उठाकर मैदान के मध्य भाग में गाड़ देता है जिनके द्वारा उस देवता ने आदि काल में दूत, भूत, दानव, प्रेत, पिशाच, राक्षस को मारकर अपनी जनता को उनसे मुक्ति दिला कर शान्ति दिलाई थी।

वाद्य-यंत्रों पर देऊ-खेल का विशेष संगीत बजता है। तब सबसे पहले मलेघा गूर अर्थात् मुख्य गूर धीमी चाल से नाचता हुआ केन्द्र की ओर जहां शस्त्र पड़े हैं, बढ़ता है। सभी गूरों की तरह उसके पैर नंगे हैं। घुटनों से दोनों टांगें नंगी हैं। सिर नंगा है। सिर के बाल बिखरे हैं और पीछे की ओर कमर तक लटके हैं। कमर तक शरीर भी नंगा है।

मूक अभिनय

सारा देऊखेल मूक-अभिनय का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। बीच में शस्त्रों के पास पहुंच

कर मलेघा गूर हाथों में घण्टी और धड़छ थामे हुए बाजुओं को आगे फैलाता है। एक नज़र चारों ओर घुमाता है। दृष्टि घण्टी-धड़छ पर केन्द्रित करता है और वाद्य-यंत्रों के संगीत में अत्यन्त गम्भीर मुद्रा में पहले शस्त्रों की परिक्रमा करता है। फिर नाचना आरम्भ करता है— तीन कदम दायीं ओर तीन कदम वापस बायीं ओर। नाचते हुए घण्टी को धड़छ के ऊपर घुमाता है। उसे टेढी करके धूप के धुएं को हवा में फैलाता है। मुंह में मन्त्र जपता रहता है। कुछ देर ऐसा नाचने के बाद कमर के बल नीचे झुकता है और पीछे की ओर मुड़ता है। कुछ देर ऐसा नाचने के बाद कमर झुका कर दायीं ओर तथा फिर बायीं ओर मुड़ता है। इस प्रकार धड़छ के धूप-दीप से मलेघा गूर सबसे पहले चारों दिशाओं की स्तुति करता है। यह देऊखेल का **मंगलाचरण** है।

तब वह घण्टी-धड़छ कारदार को थमा देता है तथा भूमि में गाड़े शस्त्रों में लोहे के गुर्ज को उठाता है दोनों हाथों को चौड़ा करके गुर्ज के साथ पहले की तरह चारों दिशाओं की ओर गुर्ज चलाने का प्रदर्शन करता है। हर बार गुर्ज को दोनों हाथों से पकड़कर प्रहार करता और अपने कन्धे पर मारता है और यह अभिनय करता है कि उसने किस तरह गुर्ज से अपने शत्रुओं को मारा। अन्त में वह इसे भी कारदार को सौंप देता है। इसे 'लोहा खेलना' कहते हैं। तब जंजीरों के गुच्छे को उठाता है। वह गुच्छे को घुमा-घुमाकर यह संकेत करता है कि उसने किस तरह शत्रुओं को जंजीरों से बांधा। बायें हाथ में गुच्छा थमाकर बायें हाथ की कलाई पर दायें हाथ की दो उंगलियां रखकर अपने द्वारा की गई घोड़े की सवारी का संकेत करता है। फिर गुच्छे पर दायें हाथ कीथैली फेर कर हवा में फूंक मारता है कि उसने किस तरह गुच्छे से बांधकर शत्रु को हवा में उड़ा दिया। अन्त में इसे भी कारदार को थमा देता है। तब इसी तरह बारी-बारी अन्य हथियारों को उठाता है और चारों दिशाओं में नाचता हुआ उनका प्रयोग दर्शाता है। अन्य हथियारों में कटारियां प्रमुख हैं। वह दोनों में एक-एक कटारी लेकर दोनों बाजुओं को फैलाकर कभी बगल के नीचे और कभी ऊपर प्रहार करता है। कभी कटारी का तीखा भाग अपने पेट में चुभाता है और कभी अपनी गालों में कटारियां धंसा देता है इस तरह वह शत्रुओं के साथ कटारियों से युद्ध प्रदर्शित करता है। सारे शस्त्रों के प्रदर्शन के बाद वह अन्त में यही प्रदर्शन भेखल की झाड़ी की कोमल हरी शाखाओं से करता है। भेखल तान्त्रिक झाड़ी मानी जाती है। इसे वह कारदार को न सौंपकर अपने शरीर के ऊपर से पीछे की ओर फैंक देता है। भेखल के पौधे की हरी डाली द्वारा किए इस प्रदर्शन से वह यह सिद्ध करता है कि देवता ने किस तरह शत्रुओं का सफाया करके शान्ति की स्थापना की और मानव समाज के लिए धन-धान्य एवं सुख-सम्पन्नता का शासन प्रदान किया।

शेष पात्रों का अभिनय

ज्यों ही मलेघा गूर भेखल झाड़ी की शाखा पीछे की ओर फैंक देता है तभी पंक्ति में खड़े गूरों में से पहला गूर अपने घण्टी-धड़छ अपने आदमी को दे देता है जो पिछली पंक्ति में उसके साथ बैठा होता है। तब वह नीचे झुकता है और चारों हाथ-पैर से चलकर मलेघा गूर के पैर छूता है। मलेघा गूर उसकी नंगी पीठ पर दोनों हाथों से थपकी देकर उसे खड़ा करता है। दोनों आमने-सामने एक की उंगलियां दूसरे की उंगलियों में डालकर दोनों हाथ मिलाते हैं। हाथों को दायें-बायें क्रम से अपनी ओर खैंचते हुए नाचते हैं और आपसी सहयोग का प्रदर्शन करते हैं। तब दोनों को

एक-एक कटारी दी जाती है। तब वे दोनों एक-एक हाथ पकड़कर दूसरे हाथ से कटारियों के प्रहार का प्रदर्शन करते हैं। इन दोनों द्वारा कटारियों का अभिनय समाप्त होते ही पंक्ति में से दो और गूर अपने घण्टी-धड़छ दूसरों को सौंपकर चारों अंगों से चलकर केन्द्र में पहुंचते हैं दोनों गूरों के पैर छूते हैं। वे दोनों इन्हें थपकियां देकर ऊपर उठाते हैं और फिर कटारियों का प्रदर्शन करते हैं। ऐसा क्रम तब तक जारी रहता है जब तक सभी गूर प्रदर्शन पूरा नहीं करते।

इस प्रकार देऊखेल आदि से अन्त तक मूक-अभिनय का अनूठा प्रदर्शन है और यह प्राचीन संस्कृत साहित्य के उप-रूपकों का विशिष्ट अवशेष है। प्राचीन समय में ऋतु-त्योहारों, शत्रुओं पर विजय के अवसर पर, सिंहासन-आरोहण के अवसर पर ऐसे अभिनय ग्राम-निवासियों की सभा में प्रस्तुत किए जाते थे। चूंकि गूर नंगे होते हैं इसलिए वे शरीर के प्रत्येक अंग से—नेत्र, हस्त, वक्ष, पांव, अधर और ठोडी द्वारा किए जाने वाले संकेतों के माध्यम से अपनी भावनाएं स्पष्ट अभिव्यक्त करते हैं।

कणाश

स्थानीय बोली में देवताओं की भाषा को कणाश कहते हैं। जब एक देवता दूसरे देवता का आह्वान (अच्छे अर्थों में) करता है या स्मरण करता है तो पहले देवता का मलेघा गूर दूसरे देवता के मंदिर की ओर मुंह करता है तथा ऊपर 'मूक-अभिनय' शीर्ष के अधीन वर्णित 'मंगलाचरण' का प्रदर्शन करता है। इसे कणाश देणा कहते हैं।

नाट्य के रूप में कणाश वास्तव में देउखेल का एक भाग है। अनेक स्थानों पर दिन के समय देऊखेल का प्रदर्शन होता है और सायंकाल को कणाश का आयोजन किया जाता है। कुछ सामान्य भेद को छोड़कर सभी स्थानों पर कणाश का आयोजन समान रूप से किया जाता है। उदाहरणस्वरूप मणिकर्ण के कणाश नाट्य का उल्लेख करना युक्तिसंगत होगा*। फागुन मास के शुक्ल पक्ष के प्रथम बुधवार से ठीक पंद्रह दिन पहले शाम को अंधेरा होते-होते नौड़न (नड़ जाति की स्त्री) अपने मकान की दूसरी मंजिल के बरामदे में बैठकर कणाश भाषा के तेरह बोलों का लयबद्ध उच्चारण करती है। तभी गांव की राजपूत स्त्रियां अपने-अपने घरों के बरामदे में बैठकर इन बोलों का सस्वर उच्चारण करती हैं। यह क्रम पंद्रह दिनों तक जारी रहता है।

शुक्ल पक्ष के पहले बुधवार को नैणा देवी के मंदिर के सामने शाम को अलाव की स्थापना की जाती है। इसे 'जागरा भकाणा' कहते हैं। 'जागरा' स्थानीय बोली में धार्मिक जागरण का पर्याय है। नाट्य के आयोजन हेतु रात भर के लंबे जागरण के लिए अलाव की आवश्यकता रहती है। जो प्रकाश का भी काम देता है और फागुन की सर्दी से भी बचाता है। वीरवार को देवी के रथ को सजाया जाता है। शुक्रवार को दिन के समय देऊखेल आदि का आयोजन होता है। सायंकाल देवी के रथ के साथ सबसे आगे नौड़न तथा उसके पीछे राजपूत वंश की स्त्रियां पारंपरिक वेशभूषा में सजधजकर कणाश गाती हैं तथा वृत्त में नृत्याभिनय करती हैं। अब कणाश के तेरह बोलों को दो बार गाया जाता है और तब तक सभी स्त्रियां वृत्ताकार

---

* श्री कमलकिशोर शर्मा द्वारा हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय की हिन्दी एम० फिल० उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध "कुल्लूवी लोक-नाट्य परंपरा : एक अध्ययन", पृ० 43-44

नाचती हैं और बीच में नौड़न अनेक तरह के अभिनय करती है। अब देवी के रथ को आसन पर रखा जाता है और नौड़न और अन्य स्त्रियां पुनः कणाश के तेरह बोलों को दो बार गाती हुई पूर्ववत् नृत्याभिनय करती हैं। इस तरह का कणाश नृत्य-नाट्य तीन दिन तक चलता है, जब नैणा देवी को पुनः मंदिर में स्थापित किया जाता है।

शरानी

लगभग सारे हिमाचल में चैत्र मास को तेरहवां महीना कहते हैं और तब तक इसका नाम नहीं लिया जाता जब तक विशेष जाति के लोग (स्त्री-पुरुष) घर-घर विशेष गीत गाकर और नाचकर इस बात का संकेत नहीं देते। गीत के प्रथम बोल प्रायः इस प्रकार होते हैं—

आओ शड़ोहनियो ऋतो,
माहूं भणौंक्तियो सीतो,
गुड़ीखा भणौंक्तियो बीतो,
पाथरू शवालुओं नीतों,
राजा बेठों शुणदो गीतों।

अर्थात् वसंत ऋतु आ गई है। मधु-मक्खियों के भिनभिनाने का समय आ गया है। कड़कती सर्दी के दिन बीत गए हैं। पत्थरों पर शैवाल जम गया है और राजा यह गीत सुनने बैठ गया है।

चैत्र मास ही लगभग सारे हिमाचल में बाल-नाट्य का महीना है। महीना भर कांगड़ा, ऊना, हमीरपुर आदि बाह्य क्षेत्र में 'रली' नाम से और सोलन, लोअर महासू, करसोग आदि क्षेत्र में 'लाहोल' या 'लाउलो' नाम से गांव की कन्याएं बाल-नाट्य खेलती हैं, जिसमें शिव-पार्वती विवाह प्रमुख होता है। बैसाखी के दिन शिव-पार्वती की मिट्टी से बनाई मूर्तियों को पास की नदी में प्रवाहित किया जाता है। इन्हीं दिनों कुल्लू क्षेत्र में 'शरानी' नाम से यह प्रथा मनाई जाती है।

चैत्र मास के प्रथम प्रविष्ठा की रात को गांव की सारी अविवाहित लड़कियां ग्राम देवता के मन्दिर में इकट्ठा होती हैं। सभी लड़कियां सुन्दर नये वस्त्रों में सुसज्जित होती हैं। वे सबसे पहले मंदिर और मंदिर-परिसर की सफाई करती हैं। उसे लीप-पोतकर नया रूप देतीं हैं। उसके बाद पूरे अभिनय के साथ एक लंबी गाथा गाती हैं। इस गाथा को 'शरानी' कहते हैं और इसी के आधार पर पूरे नाट्य को भी शरानी ही कहा जाता है। स्थान-भेद से इसके श्राणी, श्रेणी, शौरानी, शोड़ानी, शौआरनी, शराणी, श्रानी आदि उच्चारण-भेद भी हैं। पूरी गाथा के स्पष्ट रूप से भिन्न अंश हैं और प्रत्येक अंश के साथ अभिनय और प्रस्तुति में अंतर दिखाई देता है। गाथा के पूर्वार्ध की भाषा वर्तमान कुल्लूई नहीं है। न ही वह पहाड़ी भाषा की किसी बोली से मेल खाती है। इसलिए अर्थ भी स्पष्ट नहीं है। परन्तु उसके उत्तरार्ध की भाषा पूर्णतया वर्तमान कुल्लूई है। मूल 'शरानी' शब्द भी पूर्वार्ध की भाषा से संबंधित है और इसलिए इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। यह भी बड़ा स्पष्ट है कि मूल रूप में यह पुरानी भाषा में बहुत लंबी गाथा रही है जो अब भूली जा चुकी है और एक छोटा-सा अंश ही पूर्वार्ध के रूप में हम तक पहुंचा है।

मंदिर, मंदिर-परिसर और देव-मूर्ति की सफाई और स्वच्छता के बाद सबसे पहले कंवारी कन्याएं मंगलाचरण के रूप में देवता की स्तुति गाती हैं :

सोने पौट घणै रूपै धै,
निखलै गोडरिए खौड़ीए द्वार।
सोने शरेड़ा की मौते हारों,
घोड़ी रे घुंघरुआ देऊ जंबलू रे बार॥

चूंकि भाषा आज की कुल्लूई नहीं है, अतः इसका भावार्थ यों हो सकता है—'हे देव, तू सोने के पट के पीछे है या चांदी के पट के अंदर। द्वार खोल और बाहर निकल (दर्शन दे)। (हम तुझे) सोने से अलंकृत करें या मोती के हार से। गले में घुंघरू पहने घोड़े की सवारी में देवता जंबलू (यमदग्नि ऋषि) बाहर आये हैं। हम उसके बलिहारी हैं।' इस पद को पुनः दोहराया जाता है और 'देव जंबलू' के स्थान पर 'देवता त्रिजुगी नारायण', 'देवी मण्डासण', 'देऊ नारद मुनि' आदि के नाम बारी-बारी लिए जाते हैं। इस तरह स्थानीय सभी देवी-देवताओं की स्तुति गाई जाती है।

इसके बाद लड़कियां दो दलों में बंट जाती हैं। आधी स्त्रियां बनती हैं, आधी पुरुष। तब वे गांव के अनेक विषयों पर चर्चा-प्रतिचर्चा करती हैं और अन्त में प्रेमालाप करती हैं:

पुरुष—आओ माओ की हो सेरी
तेरो डौंखरा, तेरो डौंखरा पोलड़ूओ जोगी।
स्त्रियां—खीरी रो,रो चूड़ी, खीरी रो चूड़ी महासाय।
पुरुष—आओ माओ कीहो सेरी
तेरो डौंखरा, तेरो डौंखरा सुथणू ओ जोगी।

भावार्थ—पुरुष पूछते हैं 'हे सखिओ, तुम अकेली क्यों हो और खेतों में कौन है'?। स्त्रियां—"हे महाशय, क्यों, तुम्हें क्यों चिंता पड़ गई है।" पुरुष—"तुम्हारे सुन्दर शरीर के अंग अर्थात् पैर सुन्दर जूतों द्वारा सुसज्जित करने के योग्य है···तुम्हारी टांगें सुन्दर सूथण (सलवार) के योग्य हैं।" इसी तरह पुरुष बनी लड़कियां अगले पदों में कहती हैं कि तुम्हारा शरीर सुन्दर घाघरा, सुन्दर चोली, सुन्दर पट्टू, सुन्दर कंगण, टेढ़ू, जहीरो, बाली, बालू जराणू आदि आभूषणों से सुसज्जित करने के योग्य है। तब लड़कियां उत्तर देती हैं:

स्त्रियां—आशा पुआशा पाणी पुआशा, म्हारी साथणा सेरी।
सुथणू री जोटो, पोलड़ू री जोटो, तुसरा हुथणू॥
आशा पड़ाशा, पाणी पड़ाशा, म्हारी संगणी सेरी।
घौघरा री जोटो, घौघरा री जोटो, तुसरा हौगरा।
आशा, पआशा, पाणी पुआशा, म्हारी साथणा सेरी।
चोली री जोटो, चोली री जोटो, तुसरी होली।

भावार्थ—'(हे पुरुष) तुम्हारी आशा निराशा में न बदल जाए, तुम्हारी आशाओं पर पानी न फिर जाए, क्योंकि खेतों में हमारी साथण (सहेली) है। हमें सूथण की जोड़ी (दो सलवारें) चाहिए, नहीं तो तुम्हारी सूथण हुथणू (मजाक) में न बदल जाए।···हमें घाघरे की जोड़ी चाहिए, चोली, पट्टू, कंगण, डेढ़ू, जहीरी, बाली, बालू, जराणू आदि आभूषणों की जोड़ी चाहिए।

यहां लोक भाषा में व्यंग्यात्मक प्रतिकृति या मजाक उड़ाने के वाकचातुर्य के उत्कृष्ट उदाहरण देखे जा सकते हैं। लड़कियों का लड़कों से यह कहना कि यदि सुथणू नहीं देंगे तो,

तुम्हारा सुथणू तुथणू हो जाएगा। हुथणू शब्द निरर्थक है। यह केवल मजाक उड़ाने की दृष्टि से ध्वन्यात्मक अनुकरण है अन्यथा इसका कोई अर्थ नहीं है। इस तरह से घोघरा से होघरा, चोली से होली, पोटका से होटका, पोलड़ू से होलड़ू, डेढू से हेढू, जहीरो से नहीरो, बालू से हालू, जराणू से हराणू आदि ध्वन्यात्मक निरर्थक शब्द जोड़कर हास्यास्पद वातावरण बनाया जाता है। ये व्यंग्योक्ति के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

शरानी के दो स्पष्ट चरण हैं—एक देव-स्तुति जो निश्चित रूप से बहुत लम्बी प्रक्रिया है और उससे इस क्षेत्र के देवताओं की प्राचीन पूजा-पद्धति का पता चलता है, तथा दूसरे प्रहसन। लड़कियां अनेक तरह के प्रहसन प्रदर्शित करती हैं। ऊपर एक उदाहरण दिया गया है। एक दूसरे दृश्य में लड़कियां गांव या आस-पास के किसी मर्द या लड़के की नकल उतारती हैं। एक लड़की को उस व्यक्ति जैसा लिबास पहनाया जाता है। तब पहले उसको उकसाया जाता है। मान लो उसका नाम परमानन्द है—

गेहूं बाहले रूटलै-कुटलै, जौ बाहले सेरी।
ओरू एजड़े परमानन्दा चोढ़ पतोकणी तेरी॥

अर्थात् 'गेहूँ तो बोए हैं दूर पर्वतों पर जौ बोए हैं खेतों में। अरे परमानन्द इधर आ हम तेरी चोटी खींच देंगी।' इसके साथ छेड़ाखानी शुरू होती है। उसे इधर-उधर घसीटना आरम्भ करती हैं। परमानन्द बनी लड़की बात-चीत, चलने-फिरने, उठने-बैठने, काम करने आदि की सभी प्रक्रिया में परमानन्द जैसी हरकत करती है। लड़कियों में से एक कहती है:

केंडा बांका तू परमानन्द मेरी पंपड़ीये शोभे।
तौबे एणा मूं परमानन्दा तेरे पोलड़ू रे लोभे॥

'परमानन्द तू कितना सुन्दर है। मुझे तो बड़ा ही प्यारा लगता है। मैं तेरे बसना चाहती हूं (तेरे साथ विवाह करना चाहती हूं) केवल तेरे जूतों की लालच से।'

इस प्रकार लड़कियां हर रोज रात को मंदिर में जाकर देवस्तुति तथा प्रहसनों का आयोजन करती हैं। चैत्र मास के पूर्वार्ध की शरानी को 'छोटी शरानी' तथा बाद की शरानी को बड़ी शरानी कहते हैं। छोटी शरानी में केवल मंदिर में ही सारा आयोजन होता है। परन्तु बड़ी शरानी में लड़कियां देव-स्तुति करने के बाद शरानी गाती हुई गांव में घर-घर जाती हैं। लोग उन्हें अन्न या धन देते हैं। महीना भर में जो कुछ उन्हें उपलब्ध होता है उससे बैशाखी की पूर्व-संध्या पर प्रीति-भोज का आयोजन किया जाता है। तब गांव के सभी लोग आमंत्रित किए जाते हैं। सभी हार-शृंगार सज-धज कर आते हैं। इससे लड़कियों की भक्ति-भावना, शिष्टाचार, शालीनता, व्यवहार-कुशलता और कार्य-दक्षता का परिचय मिलता है।

अश्लील नाट्य

यों तो अश्लीलता लोक-नाट्यों का अपरिहार्य अंग है। प्रत्येक लोक-नाट्य में थोड़ी-बहुत अश्लीलता अवश्य रहती है। लोक-धर्मी कलाओं में मनुष्य की स्वतन्त्र भावनाओं का दमन करना अधिक अशिष्ट है। लोक-नाट्यों में अश्लीलता आकृत्रिम और सरल प्रकृति प्रस्तुत करती है जिसे स्त्री-पुरुष सभी बरदाशत करते हैं। परन्तु कुल्लू में कुछ लोक-नाट्य अश्लील हैं जिनमें स्त्रियां दर्शक के रूप में भी भाग नहीं लेती। भले ही चोरी-छिपे कुछ अंश देख लें, परन्तु इनमें अश्लीलता इतनी अधिक रहती है कि इन्हें पुरुष-समाज ही देख-सुन लेता है।

प्रकृति और संस्कृति का देश : किन्नौर

□ डॉ० दिनेश चन्द्र अग्रवाल

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपने स्वरूप का विवरण देते हुए स्वयं को हिमालय बताया था (—'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणाम् हिमालयः।' —श्रीमद्भागवत् गीता-10/25) तभी से हिमालय की महत्ता भौतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में आंकी जाती रही है। हिमालय के वैराट्य; क्षण प्रतिक्षण परिवर्तनशील दिव्य, स्निग्ध तथा असीम सौंदर्य को आज तक किसी भी माध्यम द्वारा पूर्णतः अभिव्यक्त नहीं किया जा सका। इस महान पर्वत से संलग्न हिमाचल प्रदेश भी अपने भूभाग में असीम प्राकृतिक सौंदर्य का अक्षय भंडार समेटे हुए है। इस प्रदेश का ही सबसे सुन्दर टुकड़ा है 'किन्नौर' मानो राजमुकुट में जड़ा कोहेनूर। यह क्षेत्र हिमाचल प्रदेश की राजधानी शिमला से पूर्व की ओर लगभग 200 कि० मी० की दूरी से आरम्भ हो जाता है। इसके उत्तर में लाहौल व स्पीति की घाटियां, पूर्व में चीन द्वारा अधिकृत तिब्बत और दक्षिण में है केदारनाथ व बद्रीनाथ। आने जाने के अस्थाई व जानलेवा मार्गों तथा चारों ओर से ऊंची पहाड़ियों व बर्फीली पर्वत-मालाओं से घिरा होने के कारण यह क्षेत्र बहुत समय तक अपने से बाहर की दुनिया से अलग थलग पड़ा रहा किन्तु आज शिमला से नारकन्डा, थानान्धार और रामपुर से होते हुए कल्पा और उससे भी आगे प्रवेश निषिद्ध सीमान्त क्षेत्र के उस छोर तक भी मोटर जाती है। जहां हमारी राष्ट्रीय सीमाओं के सजग प्रहरी, भारतीय सैनिक डटे रहते हैं। स्वतंत्रता पूर्व किन्नौर का प्रधान जनपद रामपुर बुशहर ही रहा और यह रामपुर बुशहर रियासत में ही आता था। मध्य युग में रामपुर क्रय-विक्रय का अच्छा खासा बाजार था तथा बहुत समय से अपने यहां की हाथ से बुनी सुंदर शाल-चादरों के लिये दूर-दूर तक प्रसिद्ध रहा है जिनमें बारीक पशमीनें तथा जरी के सूत का आकर्षक काम होता था। उन दिनों में लोग लकड़ी के लट्ठों से बनी पुलियों पर रस्सियां पकड़-पकड़ कर, जान और माल ईश्वर-इच्छा पर छोड़कर नदी-नाले पार किया करते थे। 19वीं शती में अंग्रेज प्रशासक लॉर्ड डलहौजी ने प्रथम बार इस क्षेत्र में आकर बुशहर और तिब्बत की सीमाओं का निरीक्षण किया था।

किन्नौर क्षेत्र तथा किन्नर जाति की प्राचीनता महाभारत काल से भी बहुत पीछे मानी जाती है। प्रसिद्ध विद्वान श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा लिखित 'हिमालय परिचय' में प्रस्तुत उल्लेखों के अनुसार लगभग 2000 वर्ष ई० पू० 'खश' नामक जाति के लोगों ने पूर्व मध्य एशिया से हिमालय क्षेत्र में प्रवेश किया था तथा ऋग्वेद कालीन पांचाल राजाओं से जिन असुर राजाओं का युद्ध हुआ था, वे सम्भवतः किन्नर व किरात ही थे और इस क्षेत्र में वैदिक आर्यों

के आगमन से पूर्व खश पहले ही यहां के निवासी बन चुके थे।

कुछ मानवशास्त्री खश को आर्य जाति की ही एक उपजाति 'इंडोआर्यन' मानते हैं, जिनकी मूल भाषा 'पिशाची' थी। स्मरणीय है कि इस क्षेत्र की भाषा किन्नौरी कही जाती है; जिसका अधिकांश पिशाची से तथा अल्पांश तिब्बती, संस्कृत तथा हिन्दी से समानता रखता है।

12वीं शती पूर्वार्द्ध कालीन कल्हण द्वारा लिखित 'राजतरंगिणी' (1/197, 1/199) तथा महाभारत (वनपर्व-53/9, 105/21 व 275/33) के आधार पर यह धारणा बनती है कि प्राचीन काल में त्रिविष्टक (तिब्बत) का नाम किम्पुरुष देश था तथा इस देश में रहने वाले लोग ही किम्पुरुष अर्थात् किन्नर थे।

प्राचीनकाल में समाज के धार्मिक विश्वास का कुछ भाग ऐसी योनियों में निहित था जो अधिकतर देव श्रेणी से निम्न थीं किंतु मानव श्रेणी से उच्चतर थीं, इन्हीं योनियों में किन्नर भी माने गये तथा लोक की आस्था का आधार इनकी अमानवी शक्ति में था।

'अमरकोश' के अनुसार किन्नरों की गणना दस देव योनियों में होती थी—

विद्याधराप्सरो-यक्ष-रक्षो-गन्धर्व-किन्नराः।

पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः॥'—स्वर्ग वर्ग-3/11

भागवत पुराण (2/10/39; 3/20/45 व 4/6/9) तथा ब्रह्माण्ड पुराण (2/25/28, 3/7/176 व 8/71) के अनुसार किन्नर देवताओं का एक ऐसा वर्ग है जिनका मुख घोड़े का और शेष शरीर मानवीय होता है। ये संगीत में प्रवीण होते हैं तथा पुलह अथवा पुलस्त्य ऋषि के वंशज माने जाते हैं। अश्व के समान मुख होने के कारण इनको बहुधा अश्व-मुखी भी कहा जाता है। 'अमर कोश' में इनको 'किन्नरा अश्वादिमुखा नराकृत्यः' कहा गया है। महाकवि कालिदास द्वारा लिखित साहित्य में भी इनको अश्वमुखी होने का आभास होता है—

'उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम्॥' कुमारसम्भवम्-1/8

'नदुर्वह श्रोणिपयोधरार्ताभिन्दन्ति मन्दां गतिमश्वमुख्यः।' कुमार सम्भवम्-1/11

वाल्मीकि रामायण के किष्किन्धा काण्ड-सर्ग-3 में भी किन्नरियों को अश्वमुखी स्त्रियों से सम्बोधित किया गया है।

बोध गया में प्रथम शती ई० पू० कालीन बौद्धस्तूप की बाड़ (रेलिंग) से प्राप्त एक शिलाफलक पर अश्वमुखी किन्नरियों की आकृतियां उत्कीर्ण हैं (विस्तृत विवरण—विन्सेन्ट स्मिथ—'ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इंडिया एण्ड सिलोन'—प्लेट-16बी)

किन्नरों के अश्वमुख रूप के विपरीत कई स्थानों पर इनका सिर मानवी और शेष शरीर घोड़े का होने के संदर्भ मिले हैं। ऐसी कुछ आकृतियां मुझे राजकीय पुरातत्व संग्रहालय, मथुरा, उ० प्र० में देखने को मिली हैं, इनमें विशेष उल्लेखनीय गुप्तकालीन दो कलाकृतियों में से एक में किन्नर दम्पत्ति को उत्कीर्ण किया है जिनका शरीर अश्व का और मुख सुन्दर मानवी है। किन्नर अपनी सहचरी की पीठ पर बैठा है (मथुरा संग्रहालय सं०-एफ-1)। दूसरी कलाकृति में अश्वमुखी जातक अभिशिष्ट है (मथुरा संग्रालय सं०-191)। बोधगया में प्रथमशती ई० पू० कालीन एक स्तूप की वेदिका से ही एक अन्य शिलापट्ट पर उत्कीर्ण किन्नर का मुख मानवी और अधोशरीर घोड़े का है।

भारतीय प्रतिमाशास्त्र के प्राचीनग्रंथ 'मानसारम्' में इनके पैर पशु के, ऊपरी शरीर

मानव का, मुख गरुड़ का तथा भुजाएं पक्षी के पंखों से बनी होती हैं, शारीरिक क्रान्ति पुष्पों के रंगों की छाया (शेड्स) के समान होती है तथा ये मधुर वीणावादन करते हैं- ('गीत वीणा विद्यानैश्च·····परितः करुण वीणम् किन्नरस्य तु स्वरूपम्।'—मानसारम्)। मैंने राजस्थान में चित्तौड़ स्थित एक मध्यकालीन मिहिर मंदिर की दीवारों में किन्नर युग्म की प्रस्तर आकृतियां देखीं हैं जिनमें उनका मुख से कटि तक का शरीर मानवी तथा अधोभाग पक्षी का है। ऐसी ही आकृतियां महाराष्ट्र में नेरी स्थान पर अवशिष्ट एक प्राचीन उत्तर मध्यकालीन शिव मंदिर में भी देखी हैं। इसी प्रकार की किन्नर आकृतियां 7वीं शती ई० में निर्मित माम्यलपुरम (मद्रास) में विशाल खंड पर उत्कीर्ण गंगावतरण के दृश्य में भी संजोयी गई हैं।

प्रायः साहित्यों में किन्नर क्षेत्र को किम्पुरुष देश तथा वहां के निवासियों को किम्पुरुष भी कहा गया है। प्राचीन काल में यहां के स्त्री व पुरुष में भेद न कर पाने के कारण इनको किम्पुरुष व किन्नर कहा गया जो 'किम+पुरुषः' तथा किम+नरः' का ही परिवर्तित रूप है ('स किम्पुरुष सकीर्णः किन्नरैश्चोपशोभितः।) सिद्धविप्रनिवासैश्च समन्तादभिसंवृतः।।'—महाभारत-अश्वमेधिक पर्व 88/379)। वास्तव में तथ्य यह है कि अंग्रेजी शासन रहने तक इस क्षेत्र में स्त्रियों व पुरुषों की वेशभूषा टोपी सहित एक दम समान थी, दोनों ही समान रूप से सिर पर चोटियां रखते थे तथा अभी तक भी पुरुषों के चेहरे मूंछ-दाढ़ी रहित और स्त्रियों के चिकने होते हैं।

महाभारत में उल्लिखित घटना के अनुसार ऋषिकों (उत्तरी चीन के शासकों)की विजय से लौटते हुए अर्जुन ने किम्पुरुष देश में आकर किन्नरराज द्रुम के पुत्र का राज्य जीता और वहां से हाटक देश में आए जहां मानसरोवर था। हाटक देश तिब्बत का ही एक भाग था और वहीं हेमकूट पर्वत भी था जहां गन्धर्वों का निवास माना गया है (महाभारत-सभा पर्व-25/1 व 28/1-2) श्रीमद्भागवत (1/6/12) में किम्पुरुष देश के राजा द्युम्न का वर्णन आता है जिसने जरासन्ध की ओर से कृष्ण से युद्ध किया था। इसके अतिरिक्त वहां पर किन्नरों के साथ हनुमान द्वारा श्रीराम की उपासना करने का भी उल्लेख आता है। कवि कालिदास ने भी इनको एक स्थान पर किम्पुरुष ही कहा है—(यत्रांशुकाक्षेपविलज्जितानां यदृच्छाया किम्पुरुषांगनानाम् दरीगृह···भवन्ति।' कुमारसम्भवम्-1/14) उन्होंने दूसरे स्थान पर किन्नरियों द्वारा अपने मुख पर चित्रकारी करने का उल्लेख करके किन्नर जाति को मानवी शरीरी होने का आभास प्रस्तुत किया है—"हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डुरीभूतमुखच्छवीनाम्। स्वेदोद्नमः किम्पुरुषांगनानां चक्रे पदं पत्र विशेषकेषु।"—कुमारसम्भवम्-3/33।

एक अन्य प्राचीन ग्रंथ 'दिव्यावदान' की 'सुधन कुमारावदान' नामक कथा में कुरु राज्य की राजधानी हस्तिनापुर (सम्प्रति ज़िला मेरठ के क्षेत्र में है) का राजकुमार सुधन किन्नर राज की पुत्री मनोहारा से प्रेम विवाह कर लेता है। किसी समय यह प्रेमकथा वृहत्तर भारत में दूर-दूर तक प्रसिद्ध थी। मध्य एशिया में खोत्तन स्थान से उक्त कथा वे कई पन्ने मिले हैं (दृष्टव्य—बेली द्वारा लिखित 'ईरानो इंडिका'—भाग-4; 'स्कूल ऑफ ओरियंटल स्टडीज़ की पत्रिका'—भाग-13 (1951) पृ० 921 तथा श्री मोतीचन्द्र लिखित 'सुधन अवदान का नेपाली चित्र-पट—प्रिन्स ऑफ वेल्सम्यूजियम, बम्बई की पत्रिका-1952, भाग-1, पृ० 8) इस कथा से ज्ञात होता है कि किन्नर मानव शरीरी थे। इनके अतिरिक्त अन्य कई सन्दर्भों से ऐसा प्रतीत होता है कि किन्नरों के विविध नाम कई स्थानों पर पर्यायवाची हैं तथा इनकी रहस्यात्मकता को सिद्ध

करते हैं अन्यथा ये सभी एक ही जनजाति के उपवर्ग ही होते हैं। (स्यात किन्नर : किम्पुरुषस्तु-रंगवदनो मयु :।—अमरकोश—व्योम वर्ग—2/74)।

कुछ भी हो, किन्नर जन जाति अत्यन्त प्राचीन है तथा भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण कड़ी है। सदियों तक बाहरी दुनिया से असम्बद्ध प्रायः रहने के कारण यहां के निवासियों ने अपनी सांस्कृतिक धरोहर को अछूते कौमार्य की भांति संजोकर रखा है अतएव इस क्षेत्र में प्राचीनतम लोक सांस्कृतिक तत्वों के दर्शन आज भी किए जा सकते हैं। स्थानीय लोक देवताओं की शक्ति में ही पूर्ण आस्था होने के कारण किन्नरों ने अपने प्रशासनिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में किसी अन्य का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं किया जिसके फलस्वरूप इनकी संस्कृति सदियों तक अछूती रही है। हिन्दू व बौद्ध संस्कृति का यहां जैसा मिश्रण कहीं नहीं है। एक ही मेले में दोनों के आनुष्ठानिक क्रिया-कलाप एक ही भोज में दोनों का सम्मिलन, एक ही मन्दिर में दोनों की पूजा। हिन्दुओं के मन्दिर में बौद्ध जैसे अनुष्ठान तथा बौद्ध गुम्फा में शैव तथा शाक्त क्रिया कलाप यहां की अपनी धार्मिक व सांस्कृतिक विशेषता है।

किन्नौर क्षेत्र में जांगी, कनम, चिनि, रंगरिछो, तशिगोन्ग, लबरंग, सुनम शियलकर, लिपा और ठांगी स्थानों पर बौद्ध गोम्पा (मठ) अवशिष्ट हैं। अधिकांश गोम्पाओं की दीवारें भित्तिचित्रों से सज्जित हैं जिनमें परम्परागत तिब्बती शैली में चित्रण किया गया है। प्रवेश द्वार के दोनों ओर बाहरी दीवार पर दो-दो रक्षक देवताओं को चित्रित किया जाता है, भीतरी दीवारों पर धर्म चक्र और किसी लामा (तिब्बती धर्मगुरु) की आकृतियां सुशोभित रहती हैं। भीतरी मुख्य कक्ष (पूजागृह) में लामा पद्म संभव की आकृति पूजा हेतु मुख्य स्थान पर बनाई जाती है। इनके अतिरिक्त लामावादी कथाओं से सम्बन्धित अन्य आकृतियां अवलोकितेश्वर, तारा, वज्रपाणि, मंजुश्री, आलंकारिक अभिप्रायः तथा तन्त्रविषयक आकृतियां भी बनी होती हैं। कई गोम्पाओं में तिब्बती पटचित्र (थन्का) लटके रहते हैं।

यहां के लगभग 80 गांवों में शक्ति के विविध रूपों की पूजा की परम्परा है। विविध त्यौहारों, मेलों अथवा अन्य अवसरों पर देवी की सवारी निकलती है। देवी की पालकी को श्रद्धालु भक्त अपने कंधों पर ढोकर चलते हैं। भक्तों द्वारा ऐसा करना एक पुण्य कार्य समझा जाता है तथा देवी का आशीर्वाद व कृपा प्राप्त होना माना जाता है। चांदी या अन्य बहुमूल्य धातु की पट्टिका पर देवी का चेहरा अथवा अनगढ़ी सी एक आकृति उभरी होती है, यही देवी की प्रतिमा है। इसके ऊपर रंगीन रेशमी फुंदनेदार झालर व कपड़े की लटकनें सजायी जाती हैं। इसके ऊपर छोटे देवताओं के चांदी से बने मुखौटे स्थापित किए जाते हैं। सबसे ऊपर याक के काले बालों से बना बहुत बड़े आकार का गोल टोपी व गुम्बद जैसा साया लगाया जाता है जो इन सब देवी देवताओं को अपने अन्दर ढक लेता है। दो लम्बे बांसों से बनी इस पालकी के आसपास चार-पांच सेवक याक के बालों से बने चंवर ढुलाते चलते हैं। इस शोभा यात्रा में सम्मिलित सभी स्त्री-पुरुष अपनी रंगीन पोशाकें पहनकर गाते-बजाते व नाचते हुए चलते हैं, दर्शक भी अपने घरों से बाहर आकर कुछ दूर तक साथ देते हैं। यहां के अन्य देवी-देवता असुर वंश से सम्बन्धित हैं तथा बाणासुर व हिडिम्बा की सन्तान माने जाते हैं। किन्नौरी लोक गीतों के अनुसार बाणासुर राक्षस पश्चिमी तिब्बत के गुगेचन्तरंग क्षेत्र का निवासी था तथा हिडिम्बा राक्षसी लाहौल घाटी में रहती थी। इनकी 18 संतानें देवी-देवता के रूप में इस क्षेत्र के मुख्य देवता माने जाते हैं, जिनमें से चंडिका, उषा तथा चित्ररेखा पुत्रियां तो लोक प्रतिष्ठित थीं और सुंगरा,

भाबा व चगांव गांवों के लोक देवता महेशुर इन्हीं के ख्याति पुत्र थे। यहां विष्णु को हरिजनों का सहायक लोक देवता माना जाता है। यहां के शिव और शक्ति क्रमशः लोक देवता महासु तथा हिडम्बा के ही रूप हैं जो कालान्तर में हिन्दू ब्राह्मण धर्म के सहयोग से परिवर्तित हुए। क्योंकि शिव तथा शक्ति के विविध रूपों में से विध्वंसात्मक व संहरात्मक रूप को रौद्र व भयानक स्वभाव के कारण ही इन्होंने सहज ही में अपना लिया। आसुरी प्रवृत्ति से सम्बन्ध रखने के कारण यहां के अधिकांश देवी-देवताओं (हिन्दू हो या बौद्ध) की आकृतियां भयानक बनाई जाती हैं। सदियों तक यहां के बौद्ध व हिन्दू धर्म में तंत्र का आधिपत्य रहा है तथा धार्मिक अनुष्ठानों में इसी कारण नर बलि व पशु बलि की प्रथा बहुत सामान्य तथा आवश्यक समझी जाती थी। यद्यपि बौद्ध उपदेशक पदमसंभव के प्रयासों के फलस्वरूप 8वीं शती ई० से नर बलि प्रथा अवरुद्ध प्रायः हो गई थी किन्तु फिर भी कुछ स्थानों पर इस प्रथा का अनुसरण होता रहा जो 19वीं शती के आरम्भ तक रहा। कामरू जनपद के भीमाकाली के मन्दिर में नर बलि का नियम था किन्तु वहां के सामन्ती राणा के मंत्री मनसुख दास ने इस पाशविक प्रथा को 19 वीं शती में ही समाप्त कर दिया था। अब केवल पशु की ही बलि दी जाती है।

भूतप्रेत, भयंकर रोग, असामयिक मृत्यु, विपत्ति, कष्ट अथवा अनिष्ट को अपने गांव से भगाने अथवा इनका गांव में प्रवेश न करने देने के उद्देश्य से देव प्रतिमाओं को अति भयानक रूप में बनाने तथा राक्षसी नृत्य(पैशाची नृत्य) की परम्परा बहुत प्राचीनकाल से चली आई है। इनको प्रसन्न करने के लिए ही बलि प्रथा का प्रचलन भी अत्यादि काल से रहा है। किन्नर लोग एक ओर तो वन देवताओं की पूजा करते हैं किन्तु अपने गांवों में उनके प्रवेश को रोकने के लिए अश्लील गीत गाते हैं और सामूहिक रूप से अश्लील फिकरे व गालियां बोलते हैं जिससे वे देवता लज्जित होकर वन में ही मुंह छिपाकर बैठ जाएं। पैशाची नृत्य की ही भांति एक अन्य धार्मिक नृत्य को 'छम' कहा जाता है। उक्त दोनों नृत्य लामाओं द्वारा विशेष अवसरों पर किए जाते हैं। इसके लिए लामा सुन्दर कढ़ाईदार और चमक-दमक वाले भारी कपड़े पहनते हैं, चेहरे पर भयानक मुखौटा लगाते हैं। कभी कोई लामा अपने हाथ में 'फुरबु'(लोहे, लकड़ी या अष्टधातु से बना, लम्बी तलवार सरीखा एक शस्त्र, जिसके सिर पर गरुड़ का सिर 'रव्युन्ग' बना होता है तथा तांत्रिक क्रियाओं में ही इसका उपयोग किया जाता है) लिए रहता है। इस नृत्य को देखने के लिए गोम्पा के प्रांगण में बड़ी संख्या में नर-नारी एकत्र हो जाते हैं। पारम्परिक गीत और वाद्य यंत्रों की ध्वनि तथा नर्तक की उत्तेजक भंगिमा से सारा वातावरण संगीतमय और रोमांचक हो उठता है।

किन्नर लोग नृत्य तथा संगीत के प्रगाढ़ प्रेमी होते हैं। इनके नृत्यों का अपना एक विशेष ढंग होता है, प्रायः सभी नृत्य सामूहिक होते हैं। एक ही ताल पर सभी नर्तकों के अंग संचालन द्वारा एक आनन्दपूर्ण लय प्रस्तुत की जाती है। इस अभिरुचि का पारम्परिक रूप आज तक ज्यों का त्यों है। नृत्यों में गाए जाने वाले गीत धार्मिक, सामाजिक व आस्थावादी लोक कथाओं पर आधारित होते हैं। इनके संगीत यंत्र लोक शिल्पकारों द्वारा परम्परात्मक ढंग से ही तैयार किए जाते हैं। किन्नौर के लोक संगीतकार 'बन' (एक तरफ से मढ़ा हुआ ढोल), 'बुग्याल' (धातुओं से बने दो गोल झांज), 'कर्णाल' (मुंह से बजने वाला 6-7 फुट लम्बा तुरही नुमा बाजा), शंख, सींघ, नरसिंघा, वेणु, ढोल तथा अन्य छोटे-मोटे यंत्र प्रयोग करते हैं। इनके अतिरिक्त एक अन्य विशेष यंत्र है—'कंगदुम' जिसे 'कंगलिंग' भी कहा जाता है तथा अति विशिष्ट अवसरों

पर ही इसका प्रयोग होता है। किसी मानवी शव की जांघ की हड्डी द्वारा यह बनाया जाता है; इस हड्डी के एक ओर चांदी या ब्रॉन्ज़ की प्लेट मढ़ी जाती है। किसी मृत गर्भवती महिला की जंघा अस्थि इस यंत्र के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व उचित मानी जाती है, क्योंकि दुष्ट आत्माओं को दूर भगाने या निष्क्रिय बनाने में यह सर्वाधिक प्रभावशाली होती है—ऐसा किन्नर परम्परा का विश्वास है। यदि मृत महिला के लक्षण व नक्षत्रगृह मांगलिक (ऑस्पीसियस ओमन्स) होते हैं तो उसकी अस्थि अत्यंत उपयोगी मानी जाती है। इस मांगल्य का निर्धारण लामा स्वयं अपने ज्योतिषी ज्ञान के आधार पर करता है।

किन्नरों का सारा जीवन नृत्य और संगीत से भरा होता है। न केवल किसी भी मेले, पर्व, त्यौहार, विश्राम अथवा फसल काटते समय, वरन् जब भी ये अपनी तरंग में आ जाएं तो थिरक उठते हैं। किन्नौर की घाटियों में दिन ढलते ही पहाड़ों में गीतों की गूंज तैरने लगती है। उनकी इस संगीतात्मक प्रवृत्ति के कारण ही इनको स्वर्गीय नर्तक व गायक गंधर्वों के समकक्ष बताया गया है। कालिदास ने किन्नरियों द्वारा एक विशिष्ट गीत 'त्रिपुर विजय गीत' गाने का उल्लेख किया है—'संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।'—'मेघदूतम्'-पूर्वमेघ-60।

यहां तीन प्रकार के लोक नृत्य मुख्यतः प्रचलित हैं—बक्यांग दक्यांग और क्यांग। बक्यांग में प्रायः स्त्रियां ही भाग लेती हैं। इनकी दो या दो से अधिक पंक्तियां होती हैं तथा नृत्य की भंगिमा मुंहा-मुंही होती है। दक्यांग में पुरुष भी भाग लेते हैं तथा कभी-कभी जोड़े बनाकर नाचते हैं। क्यांग स्त्री-पुरुषों का अर्द्धवृत्तीय नृत्य है, बीच में वाद्य बजाने वाले खड़े होते हैं। नृत्य के दौरान स्त्रियों और पुरुषों का नेतृत्व अलग-अलग व्यक्ति करता है। नर्तक अपने बाद तीसरे व्यक्ति का हाथ पकड़कर पंक्ति बांधता है, गति के साथ पंक्ति घूमती है। और नृत्य अपनी लय में घंटों चलता रहता है। एक अन्य नृत्य है 'बोयांग्चू', जिसमें वादकों के चारों ओर पुरुषों का दल नाचता है। वृत के बाहर खड़ी स्त्रियां इस नृत्य को अपने गीतों से उभार देती हैं जिससे पुरुषों को प्रोत्साहन मिलता है और उनके मुख से उल्लासमय ध्वनियां फूट पड़ती हैं। गाने वालों का सामूहिक स्वर ढोल-कर्णालों के शोर में डूब जाता है फिर भी समूचा ध्वनि गुम्फ पहाड़ों में गूंजता रहता है।

किन्नौर में कई स्थानों पर मेलों का आयोजन होता रहता है, इन मेलों में यहां की सारी संस्कृति उमड़ पड़ती है और थिरक उठती है। रामपुर में एक वर्ष में तीन बार (ग्रीष्म, हेमन्त और शीत के मौसम में) मेले भरते हैं। इनमें से हेमन्त का 'लवी' मेला सर्वाधिक उल्लास और आनन्द से भरा होता है, उन दिनों आकाश स्वच्छ रहता है, नदियां तेज प्रवाह वाली हो उठती हैं, लाल-लाल सेब व अनार से सारा रामपुर मानो लाल रंग में डूब जाता है। प्रकृति की यह दमक किन्नरियों के अंतराल में एक अबाध थिरक पैदा कर देती है, और वे नाच उठती हैं तथा घाटियां गूंज उठती हैं।

किन्नरों का एक अन्य मेला है 'फुलेच', इस मेले का उद्देश्य है अपने स्वर्गीय सगे-संबंधियों की स्मृति में फूल चढ़ाना। किंतु आश्चर्य की बात है कि यह अनुष्ठान शोक में सम्पन्न नहीं होता। पत्थर से बनी चौकियों पर मृतकों के नाम पर झण्डे तथा फूल मालाएं आदि चढ़ाने के बाद खाने-पीने की होड़-सी मच जाती है, शोक तो कहीं नाम को भी नहीं रह जाता है। मानो जीवन की प्रचुरता वहां मृत्यु के अस्तित्व को ही नहीं मानती। जो मालाएं चौकियों पर चढ़ाई जाती हैं उनके लिए छीना-झपटी मच जाती है और फिर ये मालाएं गले और सीने पर

झूलने लगती हैं। पशु बलि करके उसका मांस प्रसाद रूप में वहां उपस्थित सभी को बांटा जाता है जिसे अस्वीकार करना अप्रिय माना जाता है। इसके बाद जीवन के समारोह, संयोग का आनन्द, प्राणों के आवेग तथा नए जोश व उमंग से यह समारोह जीवन्त होकर गरम हो उठता है। मौसम्बी के रस जैसे रंग की गरम झागदार 'छान' (इसे तिब्बती रम भी कहा जाता है) से सभी के पात्र छलक पड़ते हैं। किन्नर-किन्नरी जोड़े बनाकर नृत्य करना आरम्भ कर देते हैं। सब एक-दूसरे से बेखबर सारी रात और अगले दिन-भर यह कार्यक्रम चलता रहता है। किन्नौर क्षेत्र के अतिरिक्त भारत में शायद ही कहीं ऐसा समारोह होता होगा।

सराहन जनपद में भीमाकाली का मंदिर है, यहां पर चंडिका के नाम पर प्रति सौवें वर्ष पर एक महान यज्ञ होता है जिसे उदयापन यज्ञ कहा जाता है जो 6 माह तक चलता रहता है और 600 बकरों की बलि दी जाती है, यहां के लोक देवता श्रृंगार महेश्वर के सामने ग्यारह दिनों तक होमकुण्ड प्रज्ज्वलित रहता है। इस यज्ञ में लामा लोग भी सम्मिलित होते हैं। इस अवसर पर भी सब गृहस्थ स्त्री-पुरुष 'अंगूरी' पीकर थिरक उठते हैं। यह यज्ञ इस 20वीं शती में तो हुआ ही नहीं है। पिछली शती के अत्यारम्भिक दशकों में होने की सूचना यहां के लोगों से मिली थी।

'रोपा' नामक गांव में 'अओ' नामक फूलों का त्यौहार भादों के माह में मनाया जाता है। इस त्यौहार से एक दिन पहले स्त्री-पुरुष स्नानादि से निवृत्त होकर अपनी सुन्दर वेशभूषा से सज जाते हैं। रात होते ही एक पर्वत शिखर 'कब्ढा' या 'रङ' पर से फूल लाने के लिए कुछ व्यक्ति चल पड़ते हैं। रास्ते में गाते-नाचते चलते हैं। इनके साथ उन परिवारों के सदस्य भी जाते हैं जिनमें किसी व्यक्ति की वर्ष-भर में मृत्यु हुई हो। ये सदस्य दूसरे पर्वत पर जाकर पत्थरों से बने थानों (मृतकों के नाम पर बने चबूतरे 'शकरी' या 'कोटंग') पर दिवंगत आत्माओं (पितरों) के नाम झण्डी और पकवान चढ़ाते हैं। फूल लाने वाली टोली के प्रत्येक सदस्य के पास 40-50 फुट लम्बा बांस होता है, जिसके एक सिरे को चार भागों में चीरा जाता है। इस चिरे भाग में 'डोडोर' 'वण्डु' तथा 'लोस्कर' फूल फंसाकर प्रातःकाल में ही ये सब ले आते हैं। पितरों को श्रद्धांजलि देने वाले व्यक्ति गांव के बाहर ही फूल लाने वालों की प्रतीक्षा करते रहते हैं और उनके मिलने पर रोना आरम्भ कर देते हैं। फूल लाने वाले इनको फूल भेंट करते हैं। यह भेंट शोक समाप्ति की सूचक होती हैं। फिर सब नाचते गाते हैं और अपने घरों को लौट जाते हैं।

किन्नौर के समाज में बहुपति प्रथा की मान्यता है। यहां के विवाहों में बारात में वर को नहीं वरन्-वधू को ससुराल ले जाने की प्रथा (न्योटंग मीरंग) तथा लड़की को बलपूर्वक भगाकर विवाह करने की अन्य प्रथा (दारोश डबडब) का भी कहीं-कहीं प्रचलन रहा है। वर के सभी भाई वधू के पति मान लिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त बहु विवाह प्रथा की भी मान्यता है। एक ही आदमी दो या उससे भी अधिक विवाह कर सकता है यदि उसकी पहली पत्नी बांझ हो या वह व्यक्ति अपने कृषि कार्य हेतु अतिरिक्त सहायक की आवश्यकता का अनुभव करता है अथवा कभी-कभी छोटी आयु वाला भाई किसी युवती से विवाह करना चाहे तो भी शेष बड़े भाई उस नव विवाहिता के पति भी माने जाते हैं। अपना अनुकूल वर पाने में असमर्थ किन्नौरी कन्या 'जोमो' कहलाती है तथा चिर कुआंरी ही रहती है किन्तु अनुकूल पति पाने पर वह विवाह कर सकती है।

यहां का क्षेत्रीय हस्तकला उद्योग अभी तक भी अपनी विशिष्टता व परम्परा को अपनाए हुए है। धातुशिल्प इनका विशेष प्रिय उद्योग है जिसमें ये लोग चांदी, पीतल और तांबा की विविध रूप आकर की नयनाभिराम मूर्तियां, सजावटी आकृतियां, देवताओं के मुखौटे, बर्तन आदि बनाते हैं जो देश-विदेश में निर्यात होती हैं। धातु की इन कलात्मक रचनाओं पर आलंकारिक आकृतियां, फूल पत्तियां व मोटिफ उत्कीर्ण करने में किन्नौरी शिल्पी कुशल होते हैं। इस कला में इनकी सौंदर्यानुभूति तथा कलात्मक चेतना व अभिरुचि का आभास सहज ही मिलता है। बिना किसी तकनीकी शिक्षा के ही उनके इस शिल्प कौशल को प्रतिभा ही कहा जाए तो अनुचित न होगा। इसके अतिरिक्त हथकरघे से ऊनी व रेशमी वस्त्र बुनने का कार्य भी प्रशंसनीय होता है। उसी से परम्परागत ढंग की वेशभूषा तैयार की जाती है। इनके जूते (पुल्ला) चमड़े के नहीं वरन् बकरे के बाल तथा ऊन के बने होते है। यहां की महिलाएं चांदी के गहनों के प्रति बहुत मोह रखती हैं जो यहीं बनाए जाते हैं। इनको पहनने का भी इनका अपना अलग ढंग होता है। इससे किन्नौरियों के सौंदर्य, सरलता तथा अल्हड़पन को चार चांद लग जाते हैं।

यद्यपि दस पन्द्रह वर्षों से आधुनिकता ने इस क्षेत्र में पहुंचकर यहां की संस्कृति को झकझोर डाला है किन्तु फिर भी यहां के निवासी अपनी परम्परागत संस्कृति से विमुख नहीं हुए हैं।

पत्रिका सम्बन्धी विवरण

पत्रिका का नाम : विपाशा
प्रकाशन अवधि : द्वैमासिक
प्रकाशक का नाम : सी० आर० बी० ललित
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003
संपादक का नाम : तुलसी रमण
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003
मुद्रक का नाम : मिश्रीलाल शर्मा
राष्ट्रीयता : भारतीय
पता : शांति मुद्रणालय, गली नं० 11, विश्वासनगर, दिल्ली-110032
स्वामित्व : भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003

मैं सी० आर० बी० ललित, निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग हि० प्र०, एतत् द्वारा घोषित करता हूं कि उपर्युक्त विवरण मेरी अधिकतम जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य है।

हस्ताक्षर

(सी० आर० बी ललित)

आयोजन

सोलन में नाट्योत्सव

□ ईशान शर्मा

फिल-फॉट फोरम सोलन के तत्वाधान में हिमाचल प्रदेश भाषा एवं संस्कृति विभाग तथा स्टेट बैंक ऑफ पटियाला, सोलन के सह-संयोजकत्व में 'अभिनय-90' सोलन में आयोजन हुआ। 11, 12 और 13 जून को इस उपलक्ष्य में आयोजित तीन दिवसीय अखिल भारतीय एकांकी नाट्य प्रतियोगिता में भारत भर से आये प्रसिद्ध नाट्य मण्डलों एवं रंग कर्मियों ने अपनी नाट्य प्रस्तुतियों के माध्यम से उत्कृष्ट कला को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया। नाट्योत्सव का शुभारम्भ सोलन के जिला मजिस्ट्रेट श्री ए० एल० जैन ने ज्योति प्रज्वलित करके किया।

प्रथम दिन मंचित एकांकी नाटकों में से 2 नाटक उल्लेखनीय रहे जिसमें यूनाइटेड आर्ट, पटियाला द्वारा प्रस्तुत एकांकी 'और जिंदगी सिसकती रही' विशेष प्रभावी रहा। यह मुख्यतः दहेज प्रथा और औरत की मृत्यु पर्यन्त समस्याओं पर आधारित था। नाटक की केन्द्रीय भूमिका एक स्कूली छात्रा ने बहुत अच्छी की। दूसरा चर्चित एकांकी 'रोटी' आज की टुच्ची राजनीति पर एक करारा व्यंग्य था जिसमें नाटक के युवा निर्देशक सुरेन्द्र कुमार को फक्कड़ फकीर 'मलंग' की भूमिका में दर्शकों ने खूब सराहा।

दूसरे दिन हुए 7 नाटकों में के. ल तीन नाटक ही चर्चित रहे। 'इप्टा' भिलाई द्वारा प्रस्तुत नाटक 'औरत' भी औरत की नि ति से सम्बन्धित था और इसकी विषय वस्तु 'और जिंदगी सिसकती रही' से मिलती-जुलती ।। परन्तु भिलाई के रंग-कर्मियों का अभिनय बहुत परिपक्व था, अतः नाटक बहुत अच्छा बन पड़ा। नवरंग संस्कृत मण्डल, विलासपुर द्वारा 'चन्द्र-मुखी' हास्य नाटक प्रस्तुत किया गया जो दर्शकों को हंसाने में सफल रहा। बहुरूपिया, पटना (बिहार) द्वारा प्रस्तुत नाटक 'अंगारा' विजय बिहारी द्वारा निर्देशित एवं लिखित था जो कि आजादी के लिए की गई कुर्बानियों तथा आजादी के बाद की दयनीय स्थिति पर आधारित था। इसमें बहादुर शाह ज़फर की भूमिका में विजय बिहारी ने सजीव अभिनय किया।

अंतिम दिन मंचित नाटकों में से दो बार दूरदर्शन पर प्रदर्शित मुंशी प्रेमचन्द द्वारा लिखित और 'कारवां' भोपाल द्वारा प्रस्तुत नाटक 'सद्गति' छुआछूत जैसी समस्या पर बहुत अच्छी प्रस्तुति थी। सरगम थियेटर ग्रुप, सोनीपत द्वारा प्रस्तुत एवं मणि मधुकर द्वारा लिखित समारोह का दूसरा हास्य नाटक 'दुलारी बाई' में नाटक के युवा निर्देशक आनन्द शर्मा का अभिनय 'कल्लू भाट' के रूप में बहुत सजीव था। समारोह के अन्त में आयोजक किल फॉट द्वारा प्रस्तुत 'परिणय' विशेष उल्लेखनीय रहा! लिफ्ट के एक मात्र दृश्य में केवल दो पात्रों द्वारा अभिनीत

तलाक जैसी ज्वलंत समस्या पर हुई पति-पत्नी की कहा सुनी से शुरू होकर यह नाटक अन्त में दोनों द्वारा तलाक के कागज वापिस लेने की सहमति पर समाप्त होता है इसमें रोहिताश्व गौड़ और रश्मिधर का अभिनय अच्छा था।

आयोजन के अन्त में आयोजकों द्वारा 'पोशाक-90' कार्यक्रम का प्रदर्शन किया गया जो भारत के राज्यों के परम्परागत परिधानों से सम्बन्धित था। कार्यक्रम बहुत अच्छा बन पड़ता यदि इसमें कलाकारों से उनके परिधानों से सम्बन्धित प्रश्न न पूछे जाते जिनका केवल कुछ एक कलाकार ही सार्थक उत्तर दे पाये। इस आयोजन में सोलन और दिल्ली की प्रस्तुति सबसे बेकार रही। उसके उपरान्त सोलन के अतिरिक्त जिलाधीश ने विजेताओं को निम्न पुरस्कार वितरित किये :—

सर्वश्रेष्ठ एकांकी—'औरत', प्रस्तुति इप्टा, भिलाई। द्वितीय एकांकी—'सद्गति', प्रस्तुति कारवां, भोपाल। तृतीय एकांकी—'और जिंदगी सिसकती रही', यूनाइटेड आर्ट, पटियाला।

सर्वश्रेष्ठ हास्य एकांकी—'चन्द्रमुखी', नवरंग संस्कृत मण्डल, बिलासपुर। द्वितीय हास्य एकांकी—'दुलारी बाई', सरगम थियेटर ग्रुप, सोनीपत।

सर्वश्रेष्ठ अभिनेता—विजय बिहारी (बहादुर शाह ज़फर, 'अंगारा' में)। द्वितीय अभिनेता—सुरेन्द्र कुमार (मलंग 'रोटी' नाटक में)। सर्वश्रेष्ठ अभिनेत्री—अनीता उपाध्याय ('औरत' में मुख्य भूमिका)। द्वितीय अभिनेत्री—सरस्वती बिहारी (मैडम के रोल में 'अंगारा' में)।

विजय बिहारी एवं सरस्वती बिहारी पति पत्नी और दोनों शौकिया तौर पर रंगमंच से जुड़े हैं अभिनय-89 में भी ये दोनों सर्वश्रेष्ठ अभिनेता एवं अभिनेत्री का पुरस्कार जीत चुके हैं। ये दोनों दानापुर पटना बिहार में अपनी 'बहुरूपिया' नामक नाट्य संस्था चलाते हैं। विजय अधिकतर अपने लिखे एवं निर्देशित नाटक ही खेलते हैं।

सर्वश्रेष्ठ सहायक अभिनेता—सुनील कक्कड़ (आज की नौटंकी)। सर्वश्रेष्ठ सहायक अभिनेत्री—सुमन शर्मा, (सत्यमेव जयते)। सर्वश्रेष्ठ निर्देशक—विभाष उपाध्याय (औरत, इप्टा भिलाई)।

विभाष 29 वर्षीय युवक हैं और भिलाई में इंजीनियर हैं। ये शौकिया रंगकर्मी हैं और इन्होंने अधिकतर नुक्कड़ नाटक खेले हैं।

सर्वश्रेष्ठ मेकअप—सत्यमेव जयते (रत्नाकर ड्रामाटिक प्रोडक्शन आर्ट, बरेली)। ओवर आल रनिंग ट्राफी—इप्टा, भिलाई।

पोशाक-90 का पुरस्कार वितरण इस प्रकार रहा—

सर्वश्रेष्ठ पुरुष कलाकार—आनन्द शर्मा (हरियाणा, सोनीपत)। सर्वश्रेष्ठ स्त्री कलाकार—अनीता उपाध्याय (भिलाई)। द्वितीय श्रेष्ठ पुरुष कलाकार—संतोष (भिलाई)। द्वितीय श्रेष्ठ स्त्री कलाकार—सुनीता (हरियाणा, सोनीपत)। तृतीय श्रेष्ठ पुरुष कलाकार—विजय गम्भीर। तृतीय श्रेष्ठ स्त्री कलाकार—स्वयंवरा (बिहार)।

इसी अवसर पर फिलफॉट, फोरम सोलन की ओर से प्रसिद्ध रंगकर्मी श्री सुदर्शन गौड़ को 'प्लेट ऑफ ऑनर' भेंट की गई। अंत में आयोजकों द्वारा बाहर से आये रंग-कर्मियों तथा स्थानीय अतिथियों को परम्परागत 'पहाड़ी खाना' परोसा गया। इस प्रकार यह तीन दिवसीय अखिल भारतीय नाट्योत्सव सम्पन्न हुआ।

आवरण की कलाकृतियां

इस अंक के मुख पृष्ठ पर सूर्य की प्रस्तर मूर्ति (छटी शती) की पारदर्शी है। बजोरा, ज़िला कुल्लू से प्राप्त इस मूर्ति की ऊंचाई 172 सें० मी० है। इस मूर्ति में सूर्य गुलाब की कली लिए समपाद मुद्रा में है। लम्बा को पहने यह मूर्ति कुशाण कालीन मूर्तियों की याद दिलाती है। शिरोवस्त्र को देखकर गुप्तकालीन मूर्तियों का प्रभाव झलकता है।

आवरण पृष्ठ दो में दो काष्ठ कृतियां लोक शैली की हैं। 19वीं शती की ये कला-कृतियां दत्तनगर (रामपुर बुशहर) ज़िला शिमला से प्राप्त हैं। पहली काष्ठ कृति में नांदी पर आरुढ़ शिव हैं और दूसरी पार्वती की है। भगवान शिव छोटी-सी टोपी पहने नांदी पर सवार चोला (पारंपरिक ग्रामीण वस्त्र) पहने हैं। पार्वती की लम्बी, पतली गुड़िया-सी मूर्ति लकड़ी के अलग टुकड़े पर निर्मित है। दोनों हाथों में शिवलिंग लिए पार्वती खड़ी है।

आवरण पृष्ठ तीन पर पार्वती की प्रस्तर प्रतिमा है। हाटकोटी, ज़िला शिमला से प्राप्त यह प्रतिमा 7-8वीं शती की है। इसकी ऊंचाई 83 से० मी० है। पार्वती सिंह पर विराजमान है। पार्वती के चार हाथ हैं। आवरण के अंतिम पृष्ठ में समकालीन कलाकार विक्रमचंद की नव निर्मित काष्ठ कृति की पारदर्शी है।

'उपहार चित्र' में रागमाला का दूसरा चित्र 'राग हिंडोल' है। 1780 ई० में रचित गुलेर शैली के इस चित्र में श्याम वर्ण कृष्ण, शरीर पर पीताम्बर और सिर में मोर-मुकुट धारण किये झूले में राधा के संग बैठे हैं। चार महिला सेविकाएं उपस्थित हैं। झूले के स्तम्भ पुष्पों से सज्जित हैं।

आलेख सामग्री : डॉ० बलबीर चौहान

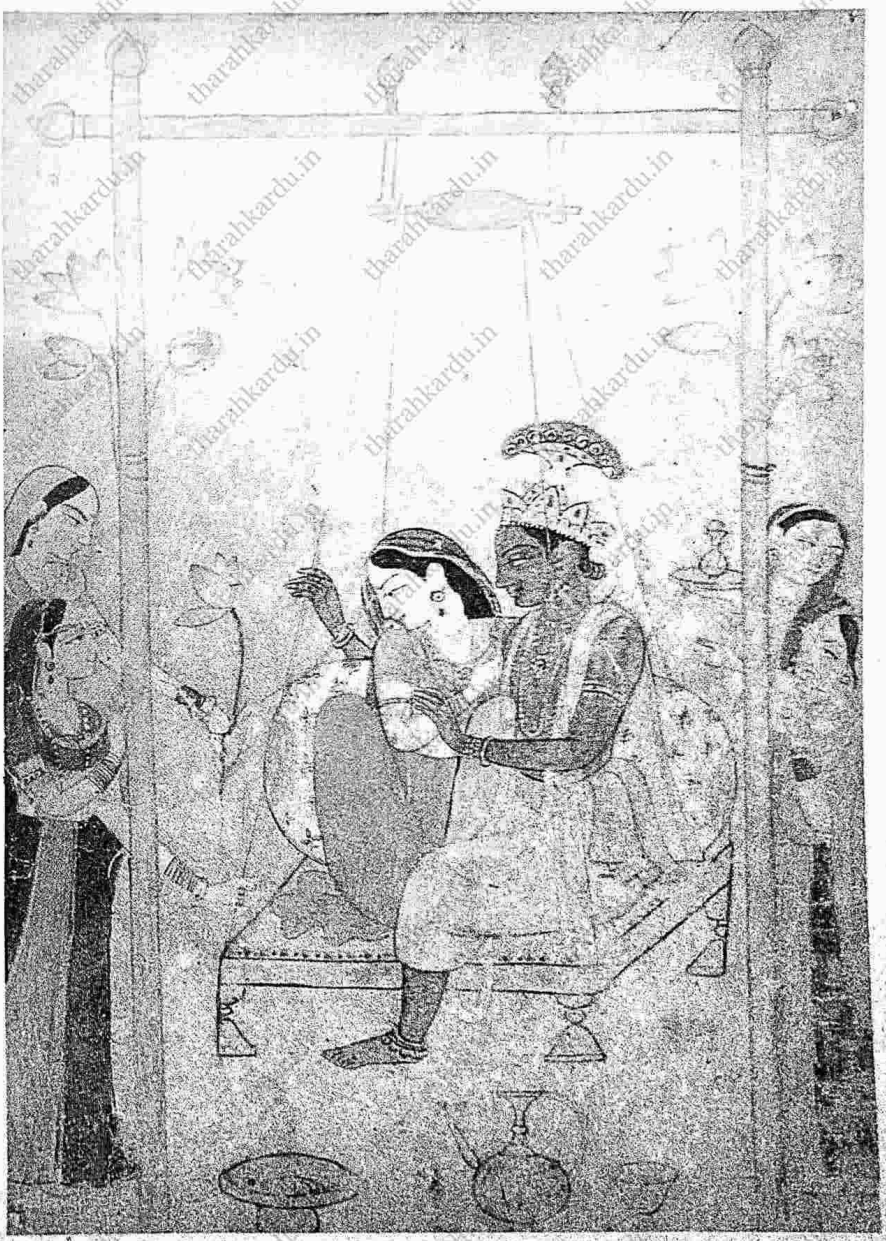

राग हिंडोल (गुलेर, 1780 ई० रागमाला चित्र, राज्य संग्रहालय, शिमला)

tharahkardu.in

पार्वती (प्रस्तर, 7-8 वीं शती हाटकोटी (जिला शिमला)

VIPASHA-33 JULY-AUGUST—1990, R.N. 42497/85, PRICE: Rs. 2/-

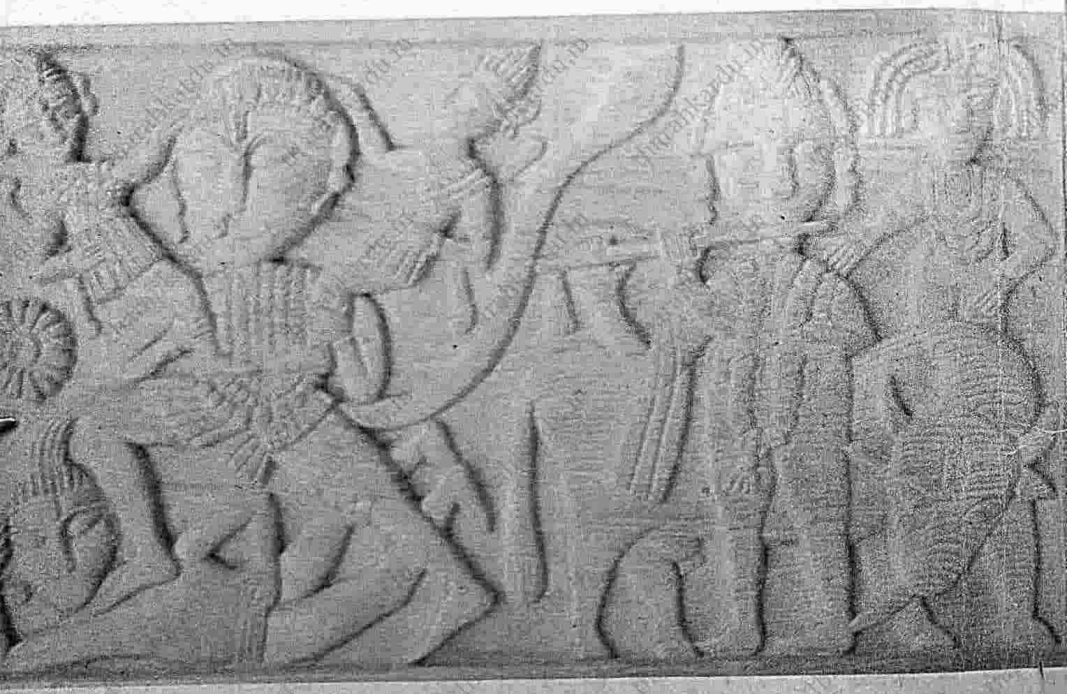

निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-171003 द्वारा
प्रकाशित तथा शांति मुद्रणालय, गली नं. 11, विश्वासनगर दिल्ली-32 द्वारा मुद्रित